ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु श्रीराम प्रणीत

पंचीकरण

प्रभात प्रकाशन, मथुरा.

ॐ

ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु श्रीराम विरचित

[ब्रह्मनिष्ठ पण्डित श्रीजयकृष्णदासजी कृत व्याख्या युक्त]

पंचीकरण

('पंचीकरण बोध' नाम हिन्दी रूपान्तर)

रूपान्तरकार:

राजेश दीक्षित

प्रभात प्रकाशन

प्रकाशक :
प्रभात प्रकाशन
मथुरा

❀

रूपान्तरकार :
राजेश दीक्षित

❀

प्रथम संस्करण
१९५७

❀

❀

मूल्य :
तीन रुपया

❀

मुद्रक :
बम्बई भूषण प्रेस
मथुरा।

पंचीकरण

जिस ग्रन्थ में पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश--इन पंचमहाभूतों के सम्बन्ध में विचार किया गया हो, उसे 'पंचीकरण' कहते हैं। इन पंचमहाभूतों के सम्बन्ध में तत्त्वदर्शी महात्माओं द्वारा पुरातन काल से विचार-विमर्ष होता आया है। वे विचार जिन ग्रन्थों में संकलित हैं, उन सब का नाम 'पंचीकरण' है, जैसे--जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य्य कृत 'पंचीकरण' आदि।

वर्त्तमान काल में, सर्व साधारण को संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण, सद्गुरु श्रीराम ने लोक कल्याणार्थ प्रस्तुत 'पंचीकरण' की रचना भाषा में की थी। इस ग्रन्थ द्वारा संस्कृत से अनभिज्ञ मुमुक्षुओं को जो लाभ पहुँचा है, उसे कहने की आवश्यकता नहीं है।

सद्गुरु श्रीराम कृत 'पंचीकरण' मूल गुजराती भाषा में है। इसमें कुल मिलकर सेंतीस दोहा-चौपाई तथा प्रमाण रूप में अन्य ग्रन्थों की ७ श्लोक संग्रहीत हैं। मुमुक्षुओं को उपदेश करते समय सद्गुरु इन दोहा-चौपाई तथा श्लोकों की विस्तृत व्याख्या स्वयं अपने ही श्रीमुख से किया करते थे। उस निधि को चिर-स्थायी रखने के हेतु ही, उनके शिष्यों में परम प्रसिद्ध व्यास पण्डित श्री जयकृष्णदास जी महाराज ने गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में, ब्रह्म-विचार, दृष्टान्त, सिद्धान्त, भक्ति, अनुभव तथा अन्य सभी विवेचनों से युक्त गुजराती भाषा में विस्तृत टीका (व्याख्या) कर, सद्गुरु कृत पंचीकरण को सर्वसाधारण के निमित्त विशेष उपयोगी तथा बोधगम्य बना दिया है। अतः प्रस्तुत पुस्तक एवं मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में 'सद्गुरु श्रीराम कृत पंचीकरण' के नाम से प्रकाशित अन्य सभी पुस्तकों को मूलतः पण्डित श्री जयकृष्णदास की देन ही समझनी चाहिए।

सद्‌गुरु श्रीराम कृत पंचीकरण के अच्छे हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता बहुत समयसे अनुभव की जा रही थी। जो हिन्दी-भाषी महानुभाव गुजराती नहीं जानते, परन्तु इस परम उपयोगी ग्रन्थ से लाभ उठाना चाहते थे, उनकी आवश्यकता को ध्यान में रख कर ही इस हिन्दी रूपांतर को प्रस्तुत किया गया है। मूल व्याख्याकार श्रीजयकृष्णदासजी कृत गुजराती पंचीकरण का यह अविकल हिन्दी अनुवाद है। विषयवस्तु को अधिक बोधगम्य तथा सरल बनाने के लिए इस रूपान्तर में शैली, प्रवाह, विराम चिह्न आदि की ओर मुख्यतया ध्यान दिया गया है। आशा है, इससे पाठकों को विशेष लाभ होगा।

प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर में यदि कोई विशेषता हो तो उसे हमारे पूर्ववर्त्ती विद्वज्जनों के श्रम का सुफल तथा यदि कोई त्रुटि हो तो उसे हमारा, अपना अपराध समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में मूल व्याख्याकार को कोई महानुभाव दोष न दें। पुस्तक अत्यन्त शीघ्रता में तय्यार हुई है, अस्तु, कहीं-कहीं प्रूफ सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। इन त्रुटियों के लिए हम पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं। अगले संस्करण में इन्हें अवश्य दूर कर दिया जायगा।

प्रस्तुत रूपान्तर से पाठकों को कुछ लाभ पहुँच सका तो हमारा श्रम सार्थक होगा—इस आशा के साथ यह ग्रन्थ अब आपके समक्ष उपस्थित है।

मथुरा-प्रवास
रामनवमी
सं० २०१४ वि०

राजेश दीक्षित

ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु श्रीराम

ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु श्रीराम का जन्म सं० १८४० वि० में हैदराबाद (दक्षिण) के एक यजुर्वेदीय महाराष्ट्र ब्राह्मण परिवार में हुआ था। सोलह वर्ष की आयु प्राप्त होते ही आप आजीवन ब्रह्मचर्य ब्रत को धारण कर, वेदान्त मार्ग में स्थित हो गये। तभी से आप दिन प्रतिदिन इसी रंग में अधिकाधिक रँगते चले गये।

सद्गुरु में बोध कराने की विलक्षण प्रतिभा थी। वे जहाँ भी जाते, लोग उनके दर्शनों के लिए सहस्रों की संख्या में उमड़ पड़ते थे। उनका शरीर परम तेजोमय था। वे मुमुक्षुओं को 'अहं ब्रह्मास्मि' का उपदेश देकर, अन्धकार पूर्ण हृदयों में ब्रह्मज्ञान रूपी दिव्य-प्रकाश की अभिनव ज्योति आलोकित करते तथा भटके हुए प्राणियों को सत्य-मार्ग का दिग्दर्शन कराते थे।

सद्गुरु की ब्रह्मनिष्ठा, उपदेश-शैली तथा अगाध आत्मिक ज्ञान से प्रभावित होकर सैकड़ों व्यक्तियों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया, जिनमें सुदामापुरी के व्यास पण्डित श्रीजयकृष्णदासजी, जामनगर के श्रीविश्वनाथ जी, बड़ौदा के श्री बापूजी तथा कच्छमाँडवी के श्री सुखलाल गिरिजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

भाद्रपद शुक्ला तृतीया सम्वत् १९०६ वि० को ६६ वर्ष की आयु में सद्गुरु ने बड़ौदा नगर में अपनी इहलीला सम्वरण की। इस प्रकार आत्मानुभव एवं ब्रह्मज्ञान की दिव्यज्योति द्वारा भूमण्डल को प्रकाशित करने के उपरान्त वे ब्रह्म के परम उपासक ब्रह्म में लीन हो, ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो गये।

विषयानुक्रमणिका

———

श्री जयकृष्ण विदुषां विरचितं

आर्याष्टकम्

देशिकचरणद्वन्द्वम् वंदेऽहं कमलशोभयाऽश्लिष्टम् ।
भत्तुं कल्मषमीष तोर्थीकर्तुं च जन्हुतनयावत् ॥ १ ॥
ननु किं देशिकचरणै ाठ निगमं वा शृणुष्व शास्त्रार्थम् ।
इति चेच्छृणु म . किं गुरुणेति त्वया न वाच्यं भोः ॥ २ ॥
निगमावसानवाच ग्दतु ह्यथवापि सर्व शास्त्रार्थम् ।
देशिककृपाविहीनो वास्तवमर्थं न कीरवन्मनुते ॥ ३ ॥
तस्माद् गुरुं दयालुं रामं स्वात्मस्थमीशमद्वैतम् ।
शान्तं दांतममन्युं वन्दे वेदावसानवेत्तारम् ॥ ४ ॥
यद्रागगलितर्वर्णैर्नाहं देहोऽयमन्नमयकोशः ।
नाह सूक्ष्मशरीरं कोशैर्ग्रथितं न चाहमज्ञातम् ॥ ५ ॥
शुद्धा बुद्धो मुक्तश्चित्सुखरूपोऽहमेवमाज्ञातम् ।
तं देशिकं महांतं वन्देऽहं शंकरं लसन्मूर्तिम् ॥ ६ ॥
स्वामिस्तवापकारं प्रतिकर्तुं कः प्रभुर्भवे ह्यसिन् ।
तस्मात्त्वां नत्वाहं भवदीयांघ्रिद्वये दधामि शिरः ॥ ७ ॥
क्वासौ तिष्ठति गुरुरिति पृच्छसि चेत्त्वं शृणुष्व भोवादिन् ।
हृदयगुहायां घनतरतिमिरं शमयन्सदैव सुखमास्ते ॥ ८ ॥
आर्याष्टकमिदं प्रोक्तं जयकृष्णेन चिद्धिया ।
पठंत्यालोड्यं ये ते वै नायांतीह पुनर्भवम् ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमदखण्डानन्दसरस्वती
सद्देशिक शिष्य जयकृष्ण विदुषां विरचितमिद
आर्याष्टकं समाप्तम् ॥

पंचीकरण

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महामाया यावद्वेदान्त केसरी ॥

× × × ×

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥

× × × ×

॥ ॐ ॥

श्री सद्गुरु परमात्मने नमः

श्री सटीक पंचीकरण

—:०००:—

मूल टीकाकार कृत मङ्गलाचरण

॥ आर्यावृत्तम् ॥

वन्दे श्रीमद्रामं सद्गुरु मतिशान्ति सीतयाऽऽश्लिष्टम् ॥
कामादि राक्षसारिं भयजलधौ तत्त्वबोध सेतुकरम् ॥ १ ॥

टीका—अति शान्ति अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्माकार वृत्ति रूपी सीता से संयुक्त, काम क्रोध आदि राक्षसों के शत्रु, संसार रूपी समुद्र में तत्त्वबोध रूपी सेतु को बांधने वाले श्री रामस्वरूप सद्गुरु की मैं वन्दना करता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी सीता से संयुक्त हैं उसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु श्रीरामजी परम शान्ति अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्माकार वृत्ति रूपी सीता से संयुक्त हैं, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी रावण आदि राक्षसों के शत्रु हैं, उसी प्रकार सद्गुरु श्रीरामजी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर रूपी राक्षसों का नाश करने वाले हैं। जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी सेना को पार उतारने के लिए समुद्र पर सेतु बाँधा था, उसी प्रकार सद्गुरु श्रीराम ने मुमुक्षुओं (मुक्ति की इच्छा रखने वालों) को संसार रूपी समुद्र से पार उतारने के लिए तत्त्वबोध रूपी सेतु का निर्माण किया है। अतः मैं श्री रामचन्द्र रूपी सद्गुरु श्रीराम की वन्दना करता हुआ, उनके चरण-कमलों में साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ।

अनुबन्ध चतुष्टय

अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन—ये चार अनुबन्ध जिस ग्रन्थ में होते हैं, उसी ग्रन्थ में विवेकी पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। परन्तु इस 'पंचीकरण' नामक ग्रन्थ में अधिकारी आदि अनुबन्ध का अभाव है, अतएव यह समझना चाहिए कि इसमें किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी, अर्थात् इस ग्रन्थ का आरम्भ निष्फल है—इस प्रकार की शङ्का यदि किसी को उत्पन्न हो तो उसका समाधान करने के लिए उसे दूसरी चौपाई (जन्म मरण केम टलशे भाई) पढ़नी चाहिए।

अधिकारी लक्षण

आत्मानात्म का विवेक, वैराग्य, शम-दम आदि षट् सम्पत्ति तथा मोक्ष की कामना—इन चार साधनों से सम्पन्न मनुष्य को इस पंचीकरण का अधिकारी कहा गया है।

आत्मानात्म विवेक लक्षण

आत्मा का स्वरूप नित्य है, उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है—ऐसे निश्चय का नाम ही विवेक है।

वैराग्य लक्षण

इस लोक तथा परलोक के भोगों को भोगने की इच्छा त्याग देने का नाम ही वैराग्य है।

शमदमादि षट् सम्पत्ति

१—सम्पूर्ण वासनाओं के त्याग को 'शम' कहा जाता है।

२—शब्दादि बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोकना 'दम' कहा जाता है।

३—संसार के सम्पूर्ण प्रपंचों से निवृत्ति का नाम 'उपरति' है।

४—शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्व धर्मों को सहन करने की शक्ति का नाम 'तितिक्षा' है।

५—ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु वेदान्त शास्त्र के वाक्यों में भक्ति (विश्वास) रखने को 'श्रद्धा' कहते हैं।

६—सत्-चित् स्वरूप को पहिचान कर चित्त की एकाग्रता का नाम 'समाधान' है।

मुमुक्षुता लक्षण

सांसारिक-बन्धनों से मुक्त होने की प्रबल इच्छा को 'मुमुक्षुता' (मोक्षेच्छा) कहा जाता है

इन चारों साधनोंसे संयुक्त पुरुषको 'अधिकारी' समझना चाहिए।

इस पंचीकरण ग्रन्थ का विषय जीव तथा ब्रह्म की एकता है। उसी का इसमें अनेक स्थानों पर निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ का तथा ब्रह्म का 'प्रतिपादक' एवं 'प्रतिपाद्य' भाव का सम्बन्ध है अर्थात् यह ग्रन्थ अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है (जिसे प्रतिपादन किया जाय उसे प्रतिपाद्य तथा जो प्रतिपादन करे उसे प्रतिपादक कहते हैं, इस प्रकार यह ग्रंथ प्रतिपादक है और ब्रह्म प्रतिपाद्य है)। इसी भाँति ज्ञान तथा पंचीकरण का जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् ज्ञान जन्य है और विचार के कारण पंचीकरण उस ज्ञान का जनक है (जो उत्पन्न होता है उसे 'जन्य' तथा जो उत्पन्न करता है, उसे 'जनक' कहते हैं)। अज्ञान तथा ज्ञान का निवर्त्य-निवर्त्तक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् अज्ञान निवृत्त होता है और ज्ञान उसे निवृत्त करता है। (जो निवृत्त हो, उसे 'निवर्त्य' तथा जो निवृत्त करे, उसे 'निवर्त्तक' कहा जाता है।) इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रयोजन परमानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति तथा अज्ञान सहित जन्म आदि अनर्थ की निवृत्ति है। इससे सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ का प्रारम्भ सफल है।

❀ श्री गणेशायनमः ❀

चौपाई

घणा दहाडानो भ्रम थयो जीवने । एटले देह माने पोते आपने ॥
तेसा रु फेर चोराशी लक्ष योनिने । फरि पामे जन्म मरण ने ॥

टीका---अविद्योपाधिक प्रत्यक् आत्मा जीव बहुत दिन अर्थात् अनादि काल भ्रम में पड़ा होने के कारण अपने शरीर को ही अपना स्वरूप समझता रहा है। वास्तव में वह स्वयं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप है---शरीर का स्वरूप मात्र नहीं है। यह जीवात्मा जो 'मैं ही शरीर हूँ, मैं ही मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ इत्यादि' समझ कर चौरासी लाख योनियों के आवागमन रूपी चक्र में भ्रमण कर रहा है, सो यह उसके स्वयं के भ्रम (अज्ञान) के कारण ही है।

भ्रम से विपरीत बुद्धि विषयक दृष्टान्त

एक समय एक ब्राह्मण बहुत सी भाँग पी लेने के कारण नशे में ऐसा निमग्न हुआ कि वह अपने ब्राह्मणत्व को भुलाकर 'मैं शूद्र हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ" इस प्रकार के अनेक विपरीत वाक्य बोलने लगा, परन्तु नशे में इस तरह के वाक्य बोलते हुए भी वह अपने ब्राह्मणत्व से पतित नहीं हुआ। उस समय उसके किसी शुभचिन्तक मित्र ने उसकी दशा पर द्रवित होकर, उसे नशा उतारने के लिए दही अथवा घी पिला दिया। उस घी के पीते ही ब्राह्मण का नशा उतर गया। तब वह अपने चैतन्य स्वभाव में आकर "मैं ब्राह्मण हूँ" ऐसा समझने लगा। उस समय "मै शूद्र आदि हूँ" ऐसी कोई कल्पना भी उसे नहीं रही। इस प्रकार जब

तक नशा रहा, तब तक उसकी बुद्धि विपरीत बनी रही। नशा उतर जाने पर उसकी विपरीत बुद्धि भी नष्ट हो गई।

दृष्टान्त का सिद्धान्त

उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार यह आत्मा भी अपने अज्ञान रूपी नशे में पड़कर अविद्या कल्पित स्थूल सूक्ष्म शरीरों से अपने कल्पित सम्बन्ध स्थापित करता है तथा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूलकर अनेक प्रकार के बन्धनों में पड़ जाता है। अर्थात् मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थादि चार आश्रमों में रहने वाला हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं जन्म लेता हूँ, मैं मृत्यु को प्राप्त होता हूँ, इस प्रकार के अनन्त विपरीत अध्यास (भ्रान्ति-मूलक धारणा) के कारण कर्म जाल में फँस जाता है। यथार्थ में तो स्वयं देहादि का द्रष्टा, साक्षी ब्रह्म स्वरूप है, परन्तु अपने अज्ञान के कारण वह समझता नहीं है। जब ऐसे अज्ञानी जीव को किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु से भेंट होती है और वह गुरु उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश रूपी घृत पिलाता है, तब उस जीव का अज्ञान रूपी नशा दूर हो जाता है। उस समय वह पुरुष "मैं कर्त्ता हूँ, मै भोक्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं शरीर हूँ" इत्यादि मिथ्या अध्यास को त्याग कर "मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप हूँ" ऐसा स्वीकार करने लगता है। परन्तु जब तक वह ऐसा नहीं समझता, तब तक अनन्त समय की भूलों के कारण "मैं शरीर हूँ" ऐसा ही मानता रहता है।

अपने स्वरूप को भूल जाने के सम्बन्ध में सिंह का दृष्टान्त

एक गड़रिया अपनी भेड़ों को चराने के लिए प्रतिदिन वन में जाया करता था। एक दिन उसने वहाँ एक पर्वत की गुफा के

समीप सिंह के एक नवजात शिशु को पड़े हुए देखा। गड़रिया उस बच्चे को उठाकर अपने घर ले आया तथा दूध पिलाकर उसका पालन करने लगा। जब वह सिंह का बच्चा दूध पीकर बड़ा हुआ तो वह भेड़ों के साथ वन में जाने लगा। वहाँ वह दिन भर खेल कूद करता, इधर-उधर घूमता और पानी पीता तथा सन्ध्या होने पर अन्य भेड़ों के साथ गड़रिये के घर लौट आया करता था। गड़रिया उसे प्रतिदिन भेड़ों के साथ ही वाड़े में वन्द कर दिया करता था।

कुछ समय तक दिन-रात भेड़-बकरियों की संगति में रहने के कारण उस सिंह के बच्चे को अपने मन में यह विश्वास होगया कि मैं भी बकरा हूँ। गड़रिया भी उसे बकरे के नाम से ही पुकारता था, कभी सिंह कहकर नहीं बुलाता था।

इस प्रकार भेड़-बकरों के साथ रह कर सिंह के बच्चे को अपने बकरा होने का और दृढ़ निश्चय हो गया। एक समय की बात है कि प्रतिदिन की भाँति वह सिंह का बच्चा भेड़-बकरियों के साथ जङ्गल में चर रहा था, उसी समय पर्वत से नीचे उतर कर एक दूसरा सिंह वहाँ आ पहुँचा। जब उस दूसरे सिंह ने सिंह के बच्चे को भेड़-बकरियों के साथ चरते हुए देखा तो उसने अत्यन्त आश्चर्य में भर कर घोर गर्जना की। उस समय सिंह के शब्द को सुनकर अन्य भेड़-बकरियों के साथ वह सिंह का बच्चा भी भागने लगा। तब उसे भागते देखकर पर्वत के सिंह ने उसे पुकारते हुए कहा—"अरे मेरे स्वजातीय मित्र! कुछ देर ठहरो। मुझे तुमसे एक बात कहनी है।" यह सुनकर भेड़ों के साथ पलने वाला सिंह ठिठक कर खड़ा हो गया। तब पर्वत के सिंह ने उसके पास आकर कहा—

"अरे भाई ! तुम तो स्वयं सिंह हो, फिर इन भेड़ों के साथ क्यों रहते हो ?" यह सुनकर भेड़ों के साथ पले हुए सिंह ने कहा—"मैं तुम्हारे समान सिंह नहीं हूँ । सिंह तो तुम्हीं हो, मैं तो बकरा हूँ । तुम मुझे सिंह कहकर झूठ बोलने की कुचेष्टा मत करो ।"

इस प्रकार भेड़ों के साथ पलने वाले सिंह के विपरीत वचन सुन कर पर्वत पर रहने वाले सिंह ने अपने मन में विचार किया कि जब से इसने जन्म लिया है, तब से यह अभी तक भेड़-बकरों के साथ पला है तथा गड़रिया भी इसे बकरा कह कर ही पुकारता है, अतः इसे स्वयं को बकरा समझने का मिथ्या अध्यास दृढ़ हो गया है । यही कारण है, जो यह अपने वास्तविक स्वरूप को भुला बैठा है । अब मुझे यह उचित है कि मैं उपदेश करके इसकी मिथ्या भ्रान्ति को दूर कर दूं । यह निश्चय करके उस पर्वती सिंहने बकरों के साथ पलने वाले सिंह से कहा—"अरे भाई ! तू विचार करके देख कि ये सब बकरे छोटे हैं और तू इन सब में बड़ा है, अतः तू बकरा नहीं है ।" यह सुन कर उस अज्ञानी सिंह ने कहा—" मेरे बकरा होने में सन्देह नहीं है । वे छोटे बकरे हैं और मैं बड़ा बकरा हूँ ।" तब पर्वती सिंह बोला—"हे भाई ! तू फिर से विचार कर और मेरी ओर देख । मैं स्वयं सिंह हूँ । तेरे सब लक्षण मुझ से मिलते हैं । बकरों से तेरे शरीर का एक भी लक्षण नहीं मिलता । देख, बकरों के दो-दो खुर हैं तथा मेरे एवं तेरे पांव में पाँच-पांच नख हैं, इसलिए तू बकरा नहीं है । इसके अतिरिक्त बकरों की पूंछ छोटी है और मेरी-तेरी पूंछ लम्बी हैं । इस प्रकार भी तू बकरा प्रतीत नहीं होता ।" इस तरह जब उस पर्वती सिंह ने उस अज्ञानी सिंह से अनेक बातें कहीं तथा उसे बकरे के लक्षणों से

विपरीत सिंह के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराया, तो भी उस अज्ञानी को बोध प्राप्त नहीं हुआ। उसने पर्वती सिंह से कहा—"हे भाई ! मुझे तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं होता।" तब पर्वती सिंह उसे समीप के एक कुएँ के तट पर ले गया। वहाँ उसने जल में अपनी तथा उस अज्ञानी सिंह की परछाईं दिखाते हुए कहा—"हे बन्धु ! तू इस प्रतिविम्ब को देख, और यह अनुभव कर कि मेरा तेरा मुख एक जैसा है अथवा उसमें कोई भेद है ? बकरों का मुख लम्बा होता है, जब कि मेरा तथा तेरा मुख गोल है। बकरे के गले में दो स्तन होते हैं, जब कि मेरे-तेरे कण्ठ में वे नहीं हैं। मेरे तथा तेरे शरीर के अवयव--कटि, केश, कान तथा रंग आदि भी बकरों के साथ मेल नहीं खाते। तू सम्पूर्णतः मेरे स्वरूप का है। देख, बकरे के मस्तक पर सींग होते हैं, परन्तु मेरे तथा तेरे मस्तक पर सींग नहीं है। इस प्रकार बकरों के साथ जब तेरा एक भी लक्षण नहीं मिलता तब तू यह स्वयं ही सोच कि तू सिंह क्यों नहीं है ?"

पर्वती सिंह के यह वचन सुन कर तथा जल में अपने प्रतिविम्ब को देख कर उस अज्ञानी सिंह ने पूछा—"हे सिंह ! यदि तुम्हारी बात सत्य है और मैं भी सिंह हूँ, तब मेरे बकरा बनने का कारण क्या है ? मैं अपने स्वरूप को किस प्रकार भूल गया। यह मुझे बताओ ?" पर्वती सिंह बोला—"हे स्वजातीय ! तू जो अपने को बकरा समझता है, उसका कारण यह है कि तू बचपन से ही बकरों के साथ रहा है तथा गड़रिया भी तुझे बकरा कह कर ही पुकारता रहा है। इसी कारण तू मिथ्या भ्रान्ति में पड़ गया है। अब तू स्वयं को 'मैं बकरा हूँ' यह समझना छोड़ कर "मैं सिंह हूँ" ऐसा निश्चय कर।" पर्वती सिंह की यह बात सुन कर तथा लक्षणों

का विचार करके स्वयं को बकरा समझने वाले अज्ञानी सिंह ने अपने मिथ्या अध्यास को त्याग दिया तथा स्वयं को सिंह समझ कर, अपने मन में पश्चात्ताप करता हुआ यह कहने लगा कि मुझ से बड़ी भूल हुई जो मैं अब तक बकरों के साथ रह कर अपने स्वरूप को भूला रहा तथा स्वयं को भी बकरा मान कर गड़रिया के बन्धन में पड़ा रहा । अब मैं कभी बकरों के साथ न रहूँगा, अपितु उनका नाश करूँगा । ऐसा निश्चय करके वह अज्ञानी सिंह बकरों का साथ छोड़, अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान कर, सिंहों के साथ विचरण करने लगा ।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त

जिस प्रकार वह अज्ञानी सिंह अपने स्वरूप को भूल गया था, उसी प्रकार अनादि काल से देह का द्रष्टा आत्मा भी अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान हो गया है। अतः वह कर्मादि के सम्बन्ध से अविद्या, कल्पित शरीर, तथा इन्द्रियादि के बकरों के समान झुण्ड में आकर, स्वयं को उन्हीं का स्वरूप समझ बैठा है। इसीलिए वह स्वयं को मनुष्य, स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण आदि वर्ण वाला एवं ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों का आश्रमी मानता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप, साक्षी, द्रष्टा तथा सच्चिदानन्द को भुल कर भ्रम में पड़ा हुआ है । जो गुरु गड़रिया के समान भेदवादी हैं, वे भी उसे यह कह कर उपदेश करते हैं कि तू संसारी हूं, तू शरीर है, तू कर्त्ता, है, तू भोक्ता है–आदि–आदि ।

जब कभी इस अज्ञानी जीव के पूर्वसञ्चित पुण्य–कर्मों का उदय होता है तथा उन पुण्य कर्मों का फल देने वाले श्री हरि की कृपा से किसी वेदान्त शास्त्र के यथार्थ ज्ञाता ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु

का समागम प्राप्त होता है, तब वह सद्‌गुरु उसके श्रेष्ठ लक्षणों तथा मुमुक्षुता को देख कर उसी प्रकार प्रश्न करता है, जिस प्रकार कि पर्वती सिंह ने बकरों के साथ रहने वाले सिंह से किए थे। वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार होते हैं —

गुरू—"तू कौन है? क्या तूने ब्रह्मके स्वरूप को पहिचाना है?"

शिष्य—"मैं तो मनुष्य हूँ। मैं ब्रह्म के स्वरूप को किस प्रकार पहिचान सकता हूँ?"

गुरू—"हे भाई! यह तेरा शरीर मनुष्य है, परन्तु इस शरीर का द्रष्टा तू आत्मा इस देह से सदैव प्रथक् है। तू मनुष्य नहीं है, तू तो ब्रह्म है। तू अपने अज्ञान के कारण ही यह कहता है कि मैं ब्रह्म के स्वरूप को किस प्रकार पहिचान सकता हूँ?"

शिष्य—"हे गुरु महाराज! आप मुझसे कहते हैं कि 'तू ब्रह्म है' परन्तु मैं ब्रह्म किस प्रकार हो सकता हूँ? मैं तो संसारी, सुखी, दुःखी, कर्त्ता तथा भोक्ता हूँ। मुझे आपका उपदेश कुछ अनुभव में नहीं आता।"

गुरू—"हे मुमुक्षो! जब तू विचार करके देखेगा, तब तुझे यह पता चलेगा कि यह देह का अभिमान ही तुझे संसारी, सुखी, दुःखी, कर्त्ता तथा भोक्ता बना रहा है, अन्यथा तू यथार्थ में दृष्टा है। देह का एक भी लक्षण तेरे साथ नहीं मिलता है [जिस प्रकार दृष्टान्त में सिंह के लक्षण बकरे से नहीं मिलते थे] इसके विपरीत ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप के सम्पूर्ण लक्षण तेरी आत्मा में मिलते हैं [जिस प्रकार कि दृष्टान्त में अज्ञानी सिंह के लक्षण पर्वती सिंह से मिलते हैं] जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में तू भी सत्य स्वरूप है। जिस प्रकार ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, उसी प्रकार तू भी तीनों अवस्थाओं को जानता है, अर्थात्

ज्ञान रूप है। जिस प्रकार ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, उसी प्रकार तू भी परम प्रेमास्पद है अर्थात् आनन्द रूप है। तू ब्रह्म के समान जायते, अस्ति, आदि, छहों विकारों से रहित है। यह तेरा दृश्य शरीर असत्य अर्थात् जड़, दुःख रूप आदि छः विकारों से युक्त है। इस शरीर के साथ तेरा कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, केवल अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान के कारण ही सुख, दुःख, कर्तृत्व, भोग आदि जो अन्तःकरण के धर्म हैं, उन्हें तूने भ्रान्ति के वशीभूत हो, अपनी आत्मा में स्थापित कर रखा है। यथार्थ में तो तू शुद्ध ब्रह्म है। तुझ में संसार का लेश भी नहीं है।

इसी सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अट्ठाईसवें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में श्री भगवान जी ने उद्धव से यह वाक्य कहा है———

श्लोक—शोक हर्ष भय क्रोध लोभ मोह स्पृहादयः।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्चनात्मनः॥

—श्रीमद्भागवत् ११। २८। १५

अर्थ—शोक (दुःख), हर्ष (प्रसन्नता), भय (डर), लोभ, मोह, स्पृहा (इच्छा), जन्म, मृत्यु आदि शब्दों से व्यक्त होने वाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी धर्म अहङ्कार में दिखाई पड़ते हैं, आत्मा में नहीं हैं।

चूंकि सुषुप्ति, समाधि आदि अवस्थाओं में आत्मा का निवास है, परन्तु वह उन अवस्थाओं में अहङ्कार में लीन हो जाता है, इसीलिए सुख-दुःख आदि धर्मों की प्रतीति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त जाग्रत अवस्था में अहङ्कार का निवास रहता है, अतः सुख-दुःख आदि की प्रतीति होती है। इससे सिद्ध होता है कि ये सभी धर्म अहङ्कार में हैं। आत्मा तो निर्विकार है।"

इस प्रकार जब सद्‌गुरु बोध करे, तब शिष्य उस पर सूक्ष्म–विचार करे तथा देह का अध्यास त्याग कर "मैं स्वतः ब्रह्म स्वरूप हूँ" यह निश्चय करे तो संसारी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है । परन्तु जिस प्रकार दृष्टान्त में पर्वती सिंह के उपदेश से पूर्व अज्ञानी सिंह को 'मैं बकरा हूँ' यह भ्रम हुआ था, उसी प्रकार अज्ञानी जीवात्मा को भी सद्‌गुरु के उपदेश से पूर्व अनादि काल से यही भ्रम बना रहता है कि मैं देह | हूँ ।

इस प्रकार प्रथम चौपाई के पूर्वार्द्ध में अनादि काल से अज्ञानी जीव को जो देहाध्यास हुआ है—उसका वर्णन किया गया है अब चौपाई के उत्तरार्द्ध में देहाध्यास के फलस्वरूप जो जन्म-मरणादि संसारी दुःख प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन सद्‌गुरु करते हैं ।

'ते सारू फरे चौरासी लक्ष योनिने इति ।'

जिस हेतु जीव अपने स्वरूप को भूलकर देहाध्यास में पड़ता है तथा जिस हेतु चौरासी लाख योनियों में बारम्बार भ्रमण करके जन्म-मरण को फिर-फिर भोगता है, उसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त नीचे दे रहे हैं, इससे सब बात समझ में आज़ाएगी ।

अन्धे का दृष्टान्त

किसी बड़े नगर में एक अन्धा रहता था । उस शहर में अनेक भांति के दुःख उठाने के कारण उसकी इच्छा शहर से बाहर जाकर रहने की हुई । तब उसने किसी एक आदमी से भेंट करके यह पूछा कि नगर से बाहर जाने का मार्ग कहाँ है ? उस आदमी ने उत्तर दिया कि इस नगर का एक ही दरवाजा है, अतः तू

किले की दीवार को पकड़ कर उसी के सहारे-सहारे आगे बढ़ता जा। इस प्रकार जब तुझे दरवाजा मिल जाय, तब वहीं नगर से बाहर निकलने का मार्ग भी मिल जाएगा। उस दरवाजे से तू बाहर निकल जाना। तब तेरा मनोरथ पूर्ण हो जाएगा।

यह सुनकर वह अन्धा किले की दीवार को पकड़ कर चलने लगा। उस अन्धे के शरीर में दाद का रोग था, अतः जब वह चलते-चलते द्वार के निकट पहुँचा तो उसी समय दाद में खुजली मचने के कारण वह अपने हाथ को किले की दीवार से हटा कर दाद को खुजाने लगा। कुछ देर बाद जब उसने अपना हाथ बढ़ाया तो वह पुनः किले की दीवार पर ही पड़ा, क्योंकि खुजाते समय भी मार्ग में चलते रहने के कारण द्वार पीछे ही छूट गया था। यह देखकर वह बेचारा अन्धा फिर से किले का चक्कर लगाने लगा। वह नगर बहुत बड़ा था, अतः मार्ग में चलते हुए कहीं तो उसके पैर में काँटे चुभते थे और कहीं पत्थरों की ठोकर लगती थी। इस प्रकार अनेक दुःख उठता हुआ, जब-जब वह द्वार के समीप पहुँचता था, तभी भाग्य के दोष से दाद में खुजली उठ आने के कारण दरवाजा पीछे छूट जाता था। इस रीति से बारम्बार चक्कर लगाते हुए वह महान् कष्ट भोगने लगा।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त

अन्धे के स्थान पर अज्ञानी जीव को समझना चाहिए तथा शहर के किले की दीवार के स्थान पर चौरासी लाख योनियों को जानना चाहिए। द्वार के स्थान पर मनुष्य का शरीर एवं दाद के स्थान पर विषय-सुखों को समझना चाहिए। दृष्टान्त के अनुसार जब यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात्

मनुष्य शरीर रूपी मुक्ति के द्वार के समीप आता है, तब वह ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश के अनुसार अपने स्वरूप को पहिचान कर चौरासी लाख योनियों की फेरी से निकल कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि वह अज्ञान रूपी अन्धता से ग्रस्त हो जाता है तो वह इस मनुष्य शरीर को मुक्ति का द्वार न जानकर अनेक प्रकार के विषय-भोग तथा असत्-आचरण रूपी दाद की खुजली में पड़कर सम्पूर्ण आयु को व्यर्थ गँवा बैठता है। उस अवस्था में उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार दाद की खुजली अत्यन्त आनन्ददायक प्रतीत होती है, उसी प्रकार मृत्यु-पर्यन्त विषय-भोगों का आनन्द बहुत अच्छा लगता रहता है। विषयादि की आसक्ति मनुष्य को कभी नहीं छोड़ती अतः उसकी प्रीति परमात्मा के चरणों में नहीं लग पाती। इस प्रकार विषय-भोग में पड़े रहने से आयु व्यतीत हो जाती है तथा मनुष्य शरीर रूपी मुक्ति का द्वार छूट जाता है। तब वह प्राणी फिर किले की दीवार रूपी चौरासी लाख योनियों—बैल, घोड़ा, गधा, आदि पशु-शरीरों को प्राप्त होकर महान् दुःख उठाता है। ऐसे पशुओं पर बड़े-बड़े बोझ लादे जाते हैं तथा लकड़ी मार-मार कर काम कराया तथा चलाया जाता है। जब उसे कोई घास आदि खिलादे तभी खा सकता है और जब कोई पानी पिलादे तभी वह पानी पी सकता है। कोई भी व्यवहार उस पशु के अपने अधीन नहीं होता। अरे, यह कितना बड़ा दुःख है? यदि वह (पशु) चलते चलते थक जाय, तो यह भी नहीं कह सकता कि मैं थक गया हूँ अथवा मुझसे चला नहीं जाता है। इस प्रकार पराधीन हो जाने के कारण पशु-योनि में अनेकों प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं। जिसने मनुष्य शरीर को पाकर आत्मज्ञान का सम्पादन नहीं किया, वह चौरासी लाख योनियों में भटकता

रहता है तथा बारम्बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता चला जाता है। जो जीव मनुष्य शरीर को पाकर मोक्ष का साधन नहीं करता तथा अपनी सम्पूर्ण आयु को अधर्म एवं विषय-भोगों में नष्ट कर देता है, वह जीव मृत्यु को प्राप्त होने के पश्चात् पशु आदि की देह धारण करके घोर कष्ट उठाता है।

'प्रबोध सुधाकर' नामक ग्रन्थ में श्रीमद् शङ्कराचार्य गुरु ने कहा है—

॥ उपगीति वृत्तम् ॥

नरदेहाऽतिक्रमणात् प्राप्तौ पश्वाऽऽदिदेहानाम्।
स्वतनोरप्यज्ञानं परमार्थस्याऽत्र का वार्ता? ॥ १ ॥

आत्म बोध प्राप्त किये बिना जिस मनुष्य की आयु व्यतीत होती है,वह शरीर नष्ट होने के पश्चात् अपने पूर्व जन्म में उपार्जित पाप कर्मों के कारण पशु आदि की देह प्राप्त करते हैं। उन पशु आदि की योनियों में जब अपने शरीर का भी पूर्ण ज्ञान नहीं रहता, तब उसमें परम सुखमय परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा—यह बात कैसे कही जा सकती है ? तात्पर्य यह है कि पशु, पक्षी आदि के शरीर में परब्रह्म का ज्ञान उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि पशु आदि के शरीर में ज्ञान नहीं होता, तो क्या होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उन योनियों में शरीर को दुःख भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई काम नहीं रहता।

इस सम्बन्ध में कहा है—

॥ आर्या वृत्तम् ॥

सततं प्रवाह्यमाणैर्वृषभैरुष्ट्रैः खरैर्गजैर्महिषैः ॥
हा कष्टं क्षुत्क्षामैः श्रांतैर्नो शक्यते वक्तुम् ॥ २ ॥

अर्थ—बैल, ऊँट, गदहा, हाथी, भैंस आदि पशुओं के शरीर पर बोझ लाद कर मनुष्य उन्हें चलाया करता है, अतः पराधीन होने के कारण वे बोझ लाद कर बड़े वेग से चलते हैं । अरे, रे ! यह कैसी कष्टकर स्थिति है ? भूख लगने पर पेट भर भोजन नहीं मिलता, जिससे दुर्बल हो जाने के कारण वे गाड़ी आदि का बोझ खींचने में असमर्थ हो जाते हैं । उस समय वे यह भी नहीं कह सकते कि मैं थक गया हूँ, अतः मुझे छोड़ दो ॥ २ ॥

अरे, रे ! पशु शरीर धारण करने से जीव को कितना दुःख उठाना पड़ता है? इसे प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टि से प्रत्यक्ष देख सकता है । इस निरूपण से यह सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना यदि मनुष्य शरीर नष्ट हो जाता है तो जीव को चौरासी लाख योनियों में जाकर जन्म-मरण के अनेकों दुःख उठाने पड़ते हैं तथा प्रारम्भ से अन्त तक कष्ट ही कष्ट रहता है । यह स्थिति कैसी है—जब जीव प्रारम्भ में माता के गर्भ में निवास करता है, तब वहाँ उसे मल, मूत्र, रुधिर, मांस, कफ आदि धातुओं में पड़े रहकर कृमि तथा जठराग्नि के अनेकों प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं । गर्भ वास तथा नर्कवास में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता । जन्म के समय माता तथा बालक को जो कष्ट होता है, वह भी वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह दुःख माता तथा जन्म लेने वाले प्राणी को ही अनुभव होता है । इस भाँति गर्भ से बाहर आने पर बाल्यावस्था में पराधीनता के कारण, युवावस्था में स्त्री आदि से भोग-कामना के

कारण तथा वृद्धावस्था में अनेकों प्रकार के रोग, अशक्ति, तृष्णा, क्रोध एवं स्त्री पुत्रादि के अनादर के कारण अपार कष्ट भोगना पड़ता है। इसो प्रकार जब मृत्यु आती है, तब शरीर में सहस्रों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने के समान दुःख प्राप्त होता है। जिस प्रकार जोवित मनुष्य के हाथ–पाँव आदि शारीरिक अङ्ग आरे से काटे जाँय तो उसे जैसा दुःख होता है, वही दुःख मृत्यु के समय भी प्राप्त होता है। जैसे–जैसे प्राण अङ्ग-प्रत्यङ्गों को छोड़ता जाता है, वैसे--वैसे ही अधिकाधिक कष्ट मिलता है। अस्तु, अज्ञानी तथा पापी जीवों को जन्म-मरण के कष्टों को बारम्बार इसी प्रकार भोगना पड़ता है। इसी सम्बन्ध में श्रीशङ्करानन्द मुनि ने 'आत्मपुराण' में एक दृष्टान्त देकर कहा है--------

श्लोक---जातो बालो युवा वृद्धो मृतो जातः पुनस्तथा ।
बंभ्रमीत्येष संसारे घटीयंत्र समोऽवशः ॥ १ ॥

अर्थ---यह अज्ञानी जीव संसार-चक्र में पड़ कर घटीयन्त्र (रँहट) के समान ऊपर नीचे आया-जाया करता है। जिस प्रकार कुम्हार का चक्र तथा तेली का बेल सदैव घूमता रहता है, उसी प्रकार यह जीव पराधीन होकर उत्पन्न होता है, बालक बनता है, युवा होता है, वृद्धावस्था को प्राप्त होता है तथा मर जाता है। यह जीव अपने अज्ञान के कारण घटीयन्त्र के समान आवागमन में पड़ कर अपने स्वरूप को भूल जाने से महान् कष्ट उठाता है।

पूर्वोक्य प्रकार से कहे हुए चौरासी लाख योनियों में आवागमन के कष्ट को सुनकर जब शिष्य के मन में अत्यन्त भय उत्पन्न हुआ तब उसे यह जिज्ञासा हुई कि यह दुःख किस प्रकार दूर हो सकता है ? उस समय अचानक स्मृति आ जाने पर उसने सद्गुरु

को शरण में पहुँच कर जन्म-मरणादि दुःखों से निवृत्ति प्राप्त करने के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा। उसका निरूपण इस दूसरी चौपाई में किया गया है---

चौपाई

जन्म मरण केम टलशे भाई। साधुनो समागम करिये जाई॥
जन्म मरण केम टलशे म्हारे। हूँ कौन छुँ एवो विचार करे तेवारे॥

अर्थ---अनेक जन्मों में किए गये निष्काम वैदिक शुभ कर्मों के फल से तथा प्रसन्नता को प्राप्त ईश्वर के अनुग्रह से, शान्ति, दान्ति, श्रद्धा, वैराग्य आदि साधन सम्पन्न जिज्ञासु का जन्म-मरण का महान् दुःख किस प्रकार से टलेगा ? (अर्थात् किस उपाय से जन्म-मरण का दुःख दूर होगा ?) ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होने पर उसका यह समाधान करते हैं कि मुमुक्ष को यह चाहिए कि वह साधु-सन्तों का समागम करे।

शिष्य---"महाराज ! 'साधु' शब्द का अर्थ क्या है ? क्या कोपीन, कमण्डल आदि धारण करने वाले तथा अपने पेट का निर्वाह करने के हेतु संसार में भ्रमण करने वाले बाह्य वेष-धारी को साधु कहते हैं अथवा साधु का लक्षण इससे भिन्न है ? जिन लक्षणों से साधु को पहचान कर उनकी सङ्गति करने से जन्म-मरण का दुःख दूर हो सकता है उन लक्षणों को आप मुझे बताने की कृपा करें।"

गुरु---"हे शिष्य ! साधु वह है जो अपने धर्म का त्याग नहीं करता, जिसमें सदैव समदृष्टि विद्यमान रहती है, जो वैराग्य, शान्ति, दान्ति, धैर्य, दया, अदम्भ, अमान, अक्रोध, क्षमा, अद्वेष, शुचित्व इत्यादि शुभ गुणों से संयुक्त होता है, वही साधु है। जो

'श्रोत्रिय' (वेद तथा वेदार्थ को जानने वाला) तथा 'ब्रह्मनिष्ठ' (ब्रह्म के स्वरूप में सच्ची निष्ठा रखने वाला) इन दोनों विशेषणों को धारण करने वाला हो, वही पूर्ण साधु है। मुमुक्षुको उसे ही सद्गुरु जानकर, उसी का समागम करना चाहिए"

शिष्य--"हे गुरु ! आपने सद्गुरु (साधु) के लक्षणों में श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ–ये दो विशेषण बताये हैं। यदि इन दोनों में से कोई एक ही विशेषण युक्त हो तो क्या वह सद्गुरु नहीं होता और क्या उससे कल्याणकारक बोध प्राप्त नहीं हो सकता ?"

गुरु--"हे शिष्य ! निस्सन्देह, एक विशेषण से युक्त गुरु द्वारा सम्यक् बोध प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः दोनों ही विशेषणों से युक्त सद्गुरु की शरण में जाना उचित है। इस सम्बन्ध में तुझे एक दृष्टान्त सुनाता हूँ, सुन।

स्वदेश जाने वाले पुरुष का दृष्टांत

कोई एक गृहस्थ मनुष्य अपने गाँव जाने वाले पथ पर चला जा रहा था। मार्ग में उसे एक नदी मिली। नदी को पार करने के लिए उस पथिक ने नदी-तट पर रहने वाले मनुष्यों से नदी पार करने का उपाय पूछा। तब एक मनुष्य ने, जो शरीर से हृष्ट-पुष्ट तथा चलने में श्रेष्ठ, परन्तु आँखों से अन्धा था, उससे कहा कि तुम मेरे कन्धे पर बैठ जाओ तो मैं तुम्हें नदी के पार पहुँचा दूँगा। उस अन्धे की बात सुनकर पथिक ने विचार किया यह मनुष्य स्वयं अन्धा है। जब इसे नदी का दूसरा किनारा ही दिखाई नहीं देगा, तब यह मुझे पार कैसे उतार सकेगा ? अतः ऐसे मनुष्य पर विश्वास करना भयकारक एवं अपने पांव में

अपने हाथों कुल्हाड़ी मारने के समान है।" यह सोच कर उसने अन्धे मनुष्यसे कहा–"मैं तेरे साथ नदी पार उतरने नहीं जाऊँगा।" उसी समय वहां एक अन्य पंगु पुरुष भी बैठा हुआ था। वह आंखों से देख तो सकता था, परन्तु पांव से चल नहीं सकता था। उसने पथिक से कहा–"हे भाई! तुम्हें किसी दूसरे के साथ जाने की आवश्यकता नहीं है। नदी में किस स्थान पर कितना पानी है, यह मैं भली भांति जानता हूँ। अतः तुम मेरे द्वारा बताए हुये मार्ग से सहज में ही नदी पार कर लोगे।" इतना कह कर उस पंगु ने इस प्रकार मार्ग बताया कि "तुम इस किनारे से थोड़ा सा नीचे उतर कर बीस कदम सीधे चले जाओ, तत्पश्चात् दाहिनी ओर को घूमते हुए निकल जाना, इस प्रकार तुम सहज ही नदी के पार उतर जाओगे।" उस पंगु की बात सुनकर पथिक ने अपने मन में यह विचार किया कि यह तो स्वयं ही पंगु है, भला यह कभी नदी में क्यों घुसा होगा? इसे जल की गहराई तथा उथले स्थल का क्या पता हो सकता है? यदि मैं इसके कहे अनुसार नदी में घुसा और कहीं पानी अधिक होने पर डूबने लगा तो यह पंगु मेरी क्या सहायता कर सकेगा? यह सोच कर उस पथिक ने पंगु की बात भी नहीं मानी। चाहे वह पंगु सत्य ही क्यों न कह रहा हो, परन्तु उसके वचनों पर विश्वास न करने के कारण पथिक उस नदी के पार नहीं जा सका।

दैवेच्छा से उसी समय एक तीसरा मनुष्य भी वहाँ आ पहुँचा। वह आंखों से देख भी सकता था और पांवों से चल भी सकता था। उसे तैरना भी आता था और नदी की गहराई आदि का भी ज्ञान था। उसने पथिक की बात सुन कर यह कहा कि तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें पार उतारे देता हूँ। यह सुन

कर पथिक ने उसके ऊपर विश्वास कर लिया तथा उसके पीछे-पीछे जाकर सहज ही में नदी से पार उतर कर, अपने गाँव जा पहुँचा।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त

ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु को दृष्टान्त के अनुरूप स्वदेश लौटने वाला पथिक समझना चाहिए। जन्म-मरण रूपी प्रवाह से युक्त इस संसार को नदी के समान जानना चाहिए। नदी के तट पर बैठे हुए अन्धे मनुष्य को श्रोत्रिय अर्थात् केवल वेदशास्त्र जानने वाला समझना चाहिए, जो शास्त्र निरूपण रूपी पाँव रखते हुए भी ब्रह्मरूपी दूसरे किनारे को देखने की शक्ति नहीं रखता है। अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि केवल श्रोत्रिय गुरु की सहायता से ही अपने स्वरूप को पहिचानने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। दृष्टान्त में वर्णित नदी-तट पर बैठे हुए पंगु मनुष्य को केवल ब्रह्मनिष्ठ समझना चाहिए। जिसे सद्गुरु के प्रसाद से ब्रह्म को देखने के लिए ज्ञानरूपी नेत्र तो प्राप्त हैं, परन्तु उस तक पहुँचने के लिए वेदवाक्य रूपी प्रमाण एवं उपदेश-पूर्ण पग प्राप्त नहीं हैं। अतः यदि वह ब्रह्मनिष्ठ किसी जीव को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए यह उपदेश करे कि 'यह संसार रूपी नदी तुच्छ है तथा श्री परमात्मा की कृपा से इसे गोवत्स के खुर से बने गड्ढे के समान सहज में ही पार किया जा सकता है' अथवा यों कहे कि 'ईश्वर एक, अद्वितीय, अनन्त, असङ्ग, अक्रिय, निर्विकार निराकार, निर्गुण, नित्य, प्रत्यगात्मा, देहत्रय से पृथक्, अवस्थात्रय का साक्षी, पञ्चकोशातीत, व्यापक, द्रष्टा, स्वयंज्योति तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है, अतः इस ज्ञान के द्वारा ही संसार रूपी नदी को सहज में पार किया जा सकता है'—तो उसका यह उपदेश सत्य

होने पर भी मुमुक्षुओं के विश्वास करने योग्य नहीं होगा, क्योंकि उसके वाक्य में वेद-स्मृति के वाक्यों का प्रमाण नहीं होता है। अतः उसके सत्य वाक्यों पर भी सन्देह होता है, अतः दृष्टान्त के अनुसार जिस प्रकार नदी पार करने की इच्छा रखने वाला गृहस्थ पाँव तथा नेत्र वाले मनुष्य की सहायता से नदी पार करके अपने घर पहुँचा, उसी प्रकार 'श्रोत्रिय' तथा 'ब्रह्मनिष्ठ' इन दोनों विशेषणों से युक्त सद्गुरु के द्वारा ही मुमुक्षु मनुष्य संसार रूपी नदी से पार हो सकता है। अतएव दोनों ही विशेषणों से युक्त सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए।

गुरू की शरण जाने के सम्बन्ध में प्रमाण—

अथर्व वेद के 'मुण्डक' उपनिषद् के अनुसार जिज्ञासुओं को समिधा आदि भेंट हाथ में लेकर, परम तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त, श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ दोनों विशेषणों से युक्त गुरू की शरण में विनयपूर्वक जाने का निरूपण किया गया है। उसी प्रकार श्री कृष्णचन्द्रजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय के चौतीसवें श्लोक में यह कहा है-----

श्लोक--तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेश्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ४। ३४

अर्थ--सद्गुरू को साष्टाङ्ग नमस्कार करके तथा बन्ध क्या है? मोक्ष क्या है? विद्या किसे कहते हैं? परमात्मा कौन है? एवं उसकी एकात्मकता किस प्रकार से जानी जाती है? आदि प्रश्नों तथा सेवा द्वारा सद्गुरू को प्रसन्न करके, उनके समीप रह कर तू परम श्रेष्ठ मोक्ष का साधन तथा अद्वितीय परमात्मा के ज्ञानको प्राप्त

कर। तब ज्ञानी (श्रोत्रिय) तथा तत्त्वदर्शी (ब्रह्मनिष्ठ) सद्‌गुरू तुझे उपदेश करेंगे।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध के तीसरे अध्याय में 'प्रबुद्ध' नामक योगीश्वर ने राजा जनक को उपदेश करते हुए कहा है--

श्लोक—तस्माद्‌गुरूं प्रपद्यन्ते जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मन्युपशमाश्रयम् ॥ १ ॥

अर्थ--इस लोक तथा परलोक के सम्पूर्ण विषय भोग कर्म जन्य होने के कारण नाशवान् तथा दुःखदाई हैं, अतः उत्तम (नाश रहित परम सुखमय) एवं श्रेय (मोक्ष) को जानने वाले की इच्छा रखने वाले मुमुक्ष पुरुष को वेद के सच्चे अर्थ जानने वाले श्रोत्रिय तथा अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभव से परब्रह्म को जानने वाले शान्त ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरू की शरण में जाना चाहिए।"

शिष्य--"हे गुरू! ऐसे सद्‌गुरू की शरण में जाकर क्या करना चाहिए ?"

गुरू--"मुमुक्ष को ऐसे गुरू की शरण में जाकर नीचे लिखे अनुसार प्रश्न करने चाहिए--

"जन्म मरण केम टलशे म्हारे ? हे दयालु गुरू ! इस संसार में मुझे जो जन्म मरण प्राप्त होता है, वह किस प्रकार छूटेगा? क्या मैं जप करूँ ? मैं तप, तीर्थ, यज्ञादि कर्म अथवा अन्य कौन-सा ऐसा साधन करूँ, जिससे मुझे जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त हो ? आप कृपा कर मुझे यह बतलाइये ?" तदुपरान्त उसी समय यह विचार करे कि मैं कौन हूँ ? तथा गुरू से भी यही बात पूछे कि "मैं कौन हूँ ? मैं यह स्थूल शरीर हूँ अथवा इन्द्रिय हूँ ? क्या मैं अलग-अलग प्राण, मन, अहंकार आदि हूँ अथवा इन सबका सम्मिलित

रूप हूँ ? क्या मैं इन सबसे प्रथक हूँ अथवा इनकी अपेक्षा और क्या हूँ, यह आप मुझे बताने की कृपा कीजिए ।"

इस प्रकार शिष्य का जिज्ञासा-युक्त प्रश्न सुनकर सद्गुरू जन्म-मरण से छूटने का जो एक उपाय बताते हैं, वह यह है—

चौपाई

सद्गुरु कहे स्वस्वरूप जाण ।
एटले तारुं जन्म टलशे प्रमाण ॥
तारा जन्म मरणनो कागल फाटे ।
सद्गुरु वचने विश्वास राखे ए माटे ॥ ३ ॥

टीका—सद्गुरु कहते हैं—"हे मुमुक्ष ! तू अपने स्वरूप को पहिचान और यह समझ कि मै स्वयं सच्चिदानन्द रूप हूँ तथा शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि का साक्षी प्रत्यक्ष आत्मा हूँ, मैं देह, इन्द्रिय आदि नहीं हूँ तथा देह के धर्म वर्णाश्रम आदि एवं इन्द्रियों के धर्म अन्ध बधिर आदि मेरे स्वरूप नहीं हैं । मैं केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ । इस प्रकार का ज्ञान जब तुझे दृढ़ रूप से प्राप्त होगा, तब तू अवागमन से छूट जायेगा । यह बात प्रमाण सिद्ध है। इसकी पुष्टि के हेतु श्रुति (वेद) के अनेकों वचन हं । उनमें से कुछ के अर्थ यह हैं—'ज्ञान से मोक्ष होती है' 'आत्मा को जान लेने पर जीव मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त होता है' 'ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग मोक्षदायक नहीं है' आदि । स्मृतियों में भी इसी प्रकार कहा है—''आत्मज्ञान के बिना केवल जप, तप आदि कर्मों से ही मोक्ष नहीं मिलती है, क्योंकि ये कर्म तो केवल अन्तःकरण की

शुद्धि के साधन मात्र हैं, जबकि मोक्ष का साधन केवल ज्ञान (आत्म ज्ञान) है" आदि। जिस प्रकार रसोई बनाने के लिए लकड़ी, बर्तन, अन्न आदि सामग्री उपस्थित होते हुए भी अग्नि के बिना रसोई नहीं बन सकती है, उसी प्रकार सब साधन होने पर भी ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। अतः (हे शिष्य !) तू अपने स्वरूप को पहिचान। इस प्रकार चौपाई के पूर्वार्द्ध में श्रुति, स्मृति प्रमाण-सिद्ध ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति का वर्णन करके, उत्तरार्द्ध में ज्ञान की प्राप्ति तथा जन्मादि दुःखों के कारण-स्वरूप कर्मों की निवृत्ति के हेतु, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के उप-देश में विश्वास रखने का निरूपण करते हैं।

वह इस प्रकार है :—

"तारा जन्म मरणनो कागल फाटे" इत्यादि

"यदि तू सद्गुरु के उपदेश में विश्वास रखेगा तो तेरा जन्म-मरण कागज फट जायगा। इसका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है कि जब तू सद्गुरु के उपदेश को सुनकर उस पर विश्वास करेगा, तब तुझे जन्म-मरण देने वाली कर्म-पत्रिका टुकड़े-टुकड़े हो जायगी अर्थात् फिर तुझे जन्म-मरण का दुःख प्राप्त नहीं होगा।"

शिष्य—"हे गुरुदेव ! आपने जन्म-मरण के कागज फटने की जो बात कही, सो वह जन्म-मरण का कागज क्या है, उसे स्पष्ट बताने की कृपा कीजिए ?"

गुरु—"हे शिष्य ! प्रत्येक जीव जो कुछ पाप-पुण्य आदि कर्म करता है, उसका हिसाब यमराज के कार्यकर्त्ता चित्रगुप्त रखते हैं। तदुपरान्त जिस जीव ने जैसा कर्म किया होता है, उसके अनुसार उसे जन्मादि के द्वारा सुख-दुःख रूपी फल दिया जाता है। उसी के कारण जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता फिरता है।

इसका वर्णन पुराणों में विस्तारपूर्वक लिखा है। यही जन्म-मरण को देने वाली कर्म-पत्रिका (कागज) है। अतः जब सद्गुरु सच्चिदानन्दमय आत्मा का उपदेश करता है तथा शिष्य उन वचनों पर दृढ़ विश्वास करता है, तब उस निश्चय के कारण चित्रगुप्त द्वारा लिखा गया कागज (कर्म-पत्रिका) फट जाता है अर्थात् जन्म-मरण का दुःख छूट जाता है। इसी बात को स्थूल रीति से समझाने के लिए यहाँ एक दृष्टान्त है, उसे सुन—

निष्णुदत्त साहूकार का दृष्टान्त

कोई एक साहूकार था। एक बार उसने मूर्खतावश उन लोगों के साथ व्यापार का सम्बन्ध स्थापित किया, जो दुर्जन थे। इस कारण उसका सम्पूर्ण धन नष्ट हो गया। इतना ही नहीं, उसके ऊपर ऋण (कर्ज) भी हो गया। तब जिन लोगों का उस साहूकार पर ऋण चाहिए था, वे उसे अनेक प्रकार से दुःख देने लगे। उस समय साहूकार ने यह विचार किया कि अब मैं कहीं नौकरी-चाकरी करके धन पैदा करूँ तथा थोड़ा-थोड़ा करके सब लोगों का ऋण चुका दूँ। यह निश्चय करके वह कम वेतन देने वाले किराने के व्यापारी तथा कपड़े के व्यापारियों के यहाँ नौकरी करने लगा। उस नौकरी से उसे जो वेतन मिलता था, वह केवल दो सौ रुपये वार्षिक था। उन रुपयों से उदरपूर्ति भी ज्यों-त्यों कठिनाई से हो पाती थी। अतः उसके साहूकारों के ऋण की व्याज भी नहीं पट पाती थी। इस प्रकार होते-होते उसका ऋण दिन प्रतिदिन बढ़ता ही चला गया। तब उसके महाजन कड़ा तगादा करके उसे अधिक दुःख देने लगे। उस साहूकार को कर्ज देने वालों में एक व्यक्ति उसका हितेच्छु, दयालु तथा मित्र था। उसने साहूकार से कहा—"हे भाई! इसी प्रकार निर्धन व्यक्तियों के यहाँ कम वेतन पर नौकरी करने से तुम अपने

ऋण से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकोगे। अतः तुम एक उपाय कर सको तो करो। इस गाँव में विष्णुदत्त नामक एक बड़ा साहूकार है। उसके पास बहुत द्रव्य है तथा वह अत्यन्त उदार भी है। तुम उसकी शरण में जाकर, बिना वेतन माँगे ही, तन मन लगाकर उसका कार्य करना आरम्भ कर दो। उसके काम को अपना काम समझ कर, वह जो आज्ञा दे, उसे निष्कपट भाव से करते रहो। जब वह तुम्हारी सेवा के बदले वेतन देने लगे तब तुम यह कहना कि इस वेतन को आप ही रखिए, मुझे अन्न-वस्त्र से अधिक अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। जब तुम ऐसा कहोगे, तब वह तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास करने लगेगा। जब वह तुम्हें अपना समझने लगेगा, तब वह उचित समय पाकर ऋण-मुक्त भी करा देगा।"

अपने मित्र की बात को सुनकर, वह ऋणी साहूकार प्रति-दिन विष्णुदत्त सेठ के पास जाने लगा, उसने मित्र की बताई हुई विधि के अनुसार उसका स्नेह प्राप्त कर लिया। वह उसके हित की कामना करता हुआ तन-मन से सेवा करने लगा। कुछ दिनों में सेठ विष्णुदत्त जब यह जान गया कि यह साहूकार वेतन लिए बिना ही सच्ची सेवा करता है, तब उसकी सच्चाई, ईमानदारी, निष्कपटता तथा निष्कामता पर पूरा विश्वास करके उसने उसे अपना मुख्य मुनीम बना दिया।

इस प्रकार ऊँचे पद पर कार्य करते हुए उस साहूकार को जब दो-तीन वर्ष व्यतीत हो गये, तब उसको ऋण देने वाले महाजनों ने अपने मन में यह विचार किया कि अब तो यह साहूकार मुख्य मुनीम के ऊँचे पद पर कार्य कर रहा है, अतः इसके पास पैसा होगा। अब यह हमारा ऋण भी चुका सकेगा। इस प्रकार विचार

करते हुए तथा धैर्य रखते हुए जब उन्हें कुछ समय और बीत गया और उस साहूकार ने फिर भी ऋण नहीं चुकाया तब एक दिन सबने मिलकर उससे तगादा करने का निश्चय किया। अस्तु, एक दिन जब वह मार्ग में जा रहा था, तव उन्होंने एक आदमी को उसके पास तगादा करने के लिए भेजा। उस आदमी ने साहूकार से कठोर शब्दों में तगादा किया, परन्तु साहूकार ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया तथा उदास होकर चुपचाप अपने सेठ के घर चला गया। जब सेठ ने अपने मुनीम को उदास देखा तो पूछा—"हे मुनीम जी ! आज तुम इतने उदास क्यों दिखाई हे रहे हो ?" यह सुनकर मुनीम की आँखों में आँसू भर आये। तब उस सेठ ने फिर कहा—"हे मुनीमजी ! तुम्हें जो दुःख हो, वह मुझसे कहो। मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने का उपाय करूँगा। तुम्हें मेरे सम्मुख अपना दुःख बताते हुए लज्जित अथवा भयभीत नहीं होना चाहिए।" यह आश्वासन पाकर मुनीम ने उत्तर दिया—"हे स्वामी ! मैंने कुछ समय पहिले अपनी मूर्खतावश कुछ दुष्ट लोगों के साथ व्यापार किया था। उसमें मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट हो गई तथा मेरे ऊपर ऋण भी चढ़ गया। तब से मैं अब तक आपके यहाँ नौकरी कर रहा हूँ। अब तक मुझसे किसी ने कुछ नहीं कहा था, परन्तु आज प्रातःकाल मुझे ऋण देने वालों के एक नौकर ने बाजार में खड़े होकर बहुत कठोर शब्द कहे हैं। उसके कारण अपनी प्रतिष्ठा पर धब्बा आते देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ है। इसी लिए आज मैं उदास दिखाई दे रहा हूँ।"

यह सुनकर सेठ विष्णुदत्त ने कहा—"अरे, भले आदमी ! तुमने आज तक यह बात मेरे कानों में क्यों नहीं डाली ? अब तक तुमने बता दिया होता तो तुम्हारा ऋण कभी का चुक जाता।

अब जो हुआ उसकी चिन्ता मत करो। तुम मुझे यह बताओ कि तुमने जो ऋण लिया था, उसका तुम्हारे महाजनों के पास लिखा हुआ कागज (ऋण-पत्र) है अथवा नहीं ? यदि है तो मुझे उन ऋण-दाताओं के नाम बताओ ?" यह सुनकर मुनीम ने अपने सभी महाजनों के नाम बता दिए। तब विष्णुदत्त सेठ ने कहा--"तुम्हें जिन लोगों का ऋण देना है, मैं उन सबका कर्ज आज ही चुका दूँगा। तथा मैं जो कुछ करूँगा, उस पर तुम्हें विश्वास रखना होगा।" मुनीम बोला--"आप जो कुछ करेंगे, मुझे उस पर पूरा विश्वास रहेगा तथा मैं उसे स्वीकार करूँगा।" यह सुनकर सेठ विष्णुदत्त ने उस साहूकार के सभी ऋण-दाताओं को बुलाकर, उन सबका ऋण चुका दिया तथा सभी दस्तावेजों को उसी समय फाड़ दिया। इस प्रकार उसने अपने कर्जदार मुनीम को ऋण-मुक्त कर दिया।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त

अज्ञानी जीव काम, क्रोध आदि छः शत्रु रूपी दुर्जनों के संगसे अपने आत्मबोध रूपी सम्पूर्ण धन को खो बैठता है तथा स्वयं को संसारी, कर्त्ता, भोक्ता आदि समझ कर अपने अज्ञान से पाप पुण्यादि कर्मों द्वारा यमराज का कर्जदार (ऋणी) बन जाता है। यमराज के यहां उसके पाप-पुण्य रूपी सभी कर्मों का फल भोगने के सम्बन्ध में कर्म-पत्रिका रूपी दस्तावेज तय्यार रक्खा रहता है। उसी के कारण यह जीव बारम्बार जन्म लेता तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। अस्तु इस प्रकार दुःख भोगने के उपरान्त जब वह जीव अपने कर्म-फलों द्वारा प्राप्त जन्म-मरणादि के दुःखों से छूटने के लिए द्वैतवादी गुरुओं की शरण में जाता है तो

उनकी अत्यन्त सेवा करने पर भी, उनके द्वारा प्राप्त हुए उपदेश रूपी वेतन से न तो उसका अपना दुःख दूर होता है और न यमराज का कर्ज ही पट पाता है। फल स्वरूप वह दुःख ज्यों का त्यों बना रहता है। इतना ही नहीं, संसारी क्लेशों की पीड़ा अधिकाधिक बढ़ती ही चली जाती है। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर पूर्व जन्म के पुण्यों के कारण जब उसकी भेंट किसी ज्ञानी मित्र से होती है, तब वह उसे यह समझाता है कि "अरे भाई भेदवादी (द्वैतवादी) गुरु तो धन हरण करने वाले मात्र हैं अर्थात् उनके द्वारा परम पद की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए तू किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, वैराग्य सम्पन्न तथा दयालु सद्गुरु की शरण में जा और उनकी निष्कपट भाव, निष्काम बुद्धि तथा मन, वचन, कर्म से शुद्ध होकर सेवा कर। वे जब कभी भी तेरी सेवा से प्रसन्न हो जायेंगे तभी तो जन्म मरण रूपी कर्म-पत्रिका (दस्तावेज) को जो यमराज के यहाँ रक्खी हुई है, फड़वा डालेंगे।" यह सुनकर जब वह जीव ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु की शरण में गया तथा उन्हें अपनी सेवा द्वारा प्रसन्न किया तब उन्होंने कृपा करके पूछा—"तेरी क्या इच्छा है, स्पष्ट कह ? तू मेरे साथ रहता है, अतः मैं तेरा दुःख दूर करने का उपाय करूँगा।" यह सुन कर शिष्य बोला—"हे महात्मन् ! अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव इन तीन तापों द्वारा मैं मध्यान्ह कालीन सूर्य के ताप के समान तप रहा हूँ। मैंने जो पाप-पुण्यादि कर्म किए हैं, उनका लेखा यमराज के पास है। अतः आप कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे यमराज के पास रक्खा हुआ वह कागज फट जाय और मैं मुक्त हो जाऊँ।" गुरू ने कहा—"सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग करके अपने पुण्यों का फल ईश्वर

को समर्पित कर दे। शम आदि साधनों से मुक्त होकर दुर्जनों का संग त्याग दे तथा मेरे उपदेशों पर विश्वास कर। वह उपदेश यह है—"तू यह स्थूल शरीर नहीं है। यह स्थूल देह दिखाई देती है, अतः यह दृश्य है और तू इसका दृष्टा है, दूसरे शब्दों में आत्मा है। यह तेरी देह नष्ट होने (मरने) पर जला दी जायेगी, अतः यह किसी कर्म का भोग नहीं कर सकती, तू इसका साक्षी, आत्मा, पूर्ण तथा व्यापक है। तू आकाश की भाँति कहीं आता-जाता नहीं है। अतः न तो तू इसका साथ दे सकता है और न आत्मा होने के कारण कर्म फल का भोक्ता ही है। अब यहाँ सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ऐसी बात है तो कर्म फल का भोक्ता कौन है ? उसका उत्तर यह है कि देह तथा अत्मा को छोड़कर जो चिदाभासरूप जीव संयुक्त सूक्ष्म शरीर शेष रहता है, वही अपने पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार जन्म–मरण के सुख-दुःख को भोगता है। जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा के अभेद का ज्ञान हो जाता है, तब वह सूक्ष्म शरीर नष्ट हो जाता है। तब उस ज्ञान रूपी अग्नि में सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं। जब कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता ही कोई नहीं रहेगा, तब यमराज के कार्यकर्त्ता (चित्र गुप्त) कर्मों को किस के नाम में लिखेंगे? अर्थात् किसी के भी नहीं। ऐसी स्थिति में यमराज भी उस कर्म–पत्रिका को तुरन्त फाड़ देते हैं। इसलिए देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि अहंकार आदि मैं से अहंकार बुद्धि त्याग देनी चाहिए तथा इस प्रकार देह, इन्द्रियादि में से अहं बुद्धि को त्याग कर, अपनी आत्मा को उनका प्रकाशक, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य मुक्त, अकर्ता तथा अभोक्ता समझना चाहिए। जिस जीव को ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है, वह मुक्त हो जाता है। इस ज्ञान द्वारा जन्म–

मरण से मुक्ति मिल जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भ मुख्य साधन नहीं है।"

शिष्य--"हे महाराज ! मेरे कार्य अनन्त काल के तथा असंख्य हैं। उनके अनुसार अज्ञान में जो कार्य किये गये, उनके लिए देहाध्यास भी बहुत समय से चला आरहा है। अतः अब उसकी निवृत्ति के लिए भी बहुत समय चाहिए। ऐसी स्थिति में आपने जो यह कहा कि सद्गुरु के वचनों पर विश्वास करने से जन्म-मरण की कर्म-पत्रिका तुरन्त फट जायगी, इस पर कैसे विश्वास किया जाय ? आप मुझे बताने की कृपा कीजिए।"

।। चौपाई ।।

एमां वार नहिं लागशे जाण। एवं वेद वचन छे प्रमाण।
आ पंचीकरणना विचार जोकरे। तो हमणां मुक्तिमलशे ताहारे।४।

टीका--"हे शिष्य ! तेरा कार्य, अज्ञान तथा देहाध्यास अनादि काल से चला आ रहा है, तो भी आत्मज्ञान प्राप्त होने पर उसे निवृत्त होते कुछ भी देर नहीं लगेगी। यही वेद के वचन का प्रमाण है। इस पंचीकरण पर जो विचार करता है, उसे शीघ्र मुक्ति मिल जाती है ॥ ४ ॥

इस सम्बन्ध में तुमसे एक दृष्टान्त कहते हैं, सुनो--

गुफा के अन्धकार का दृष्टान्त

पृथ्वी पर स्थित पर्वतों की गुफाओं में जो अन्धकार सहस्रों वर्षों से भरा हुआ है, वह जप-तप करने अथवा लकड़ी मारने से बाहर नहीं निकल सकता। वह केवल प्रकाश द्वारा ही नष्ट होगा। जिस समय उन गुफाओं में कोई मशाल जलायेगा, उसी समय

उन गुफाओं में कोई मशाल जलायेगा, उस समय अन्धकार कहीं भी नहीं रहेगा। तब वह यह नहीं कहेगा कि मैं सहस्रों वर्षों से यहाँ रह रहा हूँ, अतः एक दम बाहर नहीं निकलूंगा। इसका कारण यही है कि जैसे ही अन्धकार का विरोधी प्रकाश वहाँ प्रकट होगा, वैसे ही वह इस प्रकार भाग जायेगा कि उसके जाने के समय का पता भी नहीं लगेगा। इसी भाँति कर्म, अज्ञान तथा देहाध्यास की निवृत्ति में भी कुछ विलम्ब नहीं लगता।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त

अज्ञान जनित देहाध्यास तथा कर्म अनादिकालीन हैं, परन्तु जहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' रूपी अपरोक्ष ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है, वहाँ अज्ञान आदि दूर हो जाते हैं। यहाँ वेदान्त के वाक्यों का प्रमाण है, जिनका आशय यह है--

'देव को जान कर सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो जाते हैं।'

'ब्रह्म को जानने वाला परमपद को प्राप्त होता है।'

'वह (जीव) आत्मा को जान कर मृत्यु को (पर) तरता (विजय प्राप्त करता) है।'

'मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञानयोग द्वारा ही सम्पूर्ण पाप आदि कर्मों का नाश होता है। श्री कृष्णचन्द्र जी ने गीता के चौथे अध्याय के सेंतीसवें श्लोक में यही बात कही है--

श्लोक—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

श्रीमद्भगवद् गीता ४ । ३७

अर्थ--हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को

जला कर भस्म कर देती है, उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास द्वारा प्रबल हुई ज्ञानाग्नि पापकर्म, पुण्यकर्म तथा इन दोनों से युक्त संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

शिष्य---"हे गुरु ! आपने यह कहा था कि आत्मा का ज्ञान होने पर मोक्ष मिलता है तथा उस मार्ग के योग द्वारा मैं भी मुक्त हो सकूंगा। परन्तु आप कृपा कर यह बताइए कि आत्मा का वह ज्ञान मुझे किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा ?"

शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर गुरु चौपाई के उत्तरार्द्ध से देते हैं---

गुरु---"हे शिष्य ! 'आपंचीकरण इति' अर्थात् जब तू इस 'पञ्चीकरण' पर विचार करेगा, तब तुझे आत्मज्ञान प्राप्त होगा। तब उस ज्ञान के योग द्वारा तू देहाध्यास से निवृत्त हो जाएगा। उस स्थिति में तू जीते जो इसी शरीर से मोक्ष को प्राप्त होगा।"

शिष्य---"हे सद्गुरु ! आपने कहा है कि पञ्चीकरण के विचार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होगी, अतः आप कृपा करके यह बताइए कि पञ्चीकरण में किन-किन बातों का समन्वय है ?"

यह सुनकर गुरु ने कहा---

॥ चौपाई ॥

एमां पंचभूतनो विचारज कह्यो। जूदा जूदा तत्त्व बतायो ॥
सद्गुरु मुखे समझी लेजो। तो ब्रह्म सुख पामे आजो ॥

टीका-"हे शिष्य ! इस पंचीकरण में पंचभूतों का विचार किया गया है। पंचभूतों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश हैं। इन्हीं के तत्त्व तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण नामक तीन शरीरों के भिन्न-भिन्न विभागों का इसमें वर्णन है। और इन

भौतिक तत्त्वों से भिन्न, परन्तु इनको जानने वाले द्रष्टासाक्षी आत्मा के तत्त्व (स्वरूप) का वर्णन भी है। इस पंचीकरण का अर्थ ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास जाकर श्रवण करे तो पूरा समझ में आवेगा, उससे आत्मतत्त्व का अनुभव होगा। ऐसा जब संयोग प्राप्त हो तब उसे शीघ्रतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। इसी के द्वारा जीते-जी ब्रह्म सुख प्राप्त होता है।"

शिष्य--"हे गुरुदेव ! ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास जाकर पंचीकरण श्रवण करना तथा समझना क्यों आवश्यक है ? इस विचार का कारण क्या है ? पंचीकरण तो प्राकृत भाषा में है। उसे मैं स्वयं ही पढ़ सकता हूँ तथा अर्थ भी समझ में आ जाता है। तब आपने यह क्यों कहा है कि इसे समझने के लिए सद्गुरु का संग करना चाहिए ?"

गुरु--"हे शिष्य ! तुम जो पंचीकरण को पढ़ोगे, उसमें तुम्हें शब्दार्थ ही समझ पड़ेगा, वास्तविक अर्थ को नहीं जानोगे। परन्तु सद्गुरु के उपदेशानुसार उसके शब्दों में जो वास्तविक मर्म अथवा रहस्य दिखाई देगा, वह स्वयं समझ में नहीं आयेगा। अर्थात् निस्संदेह आत्मबोध नहीं होगा। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त कहते हैं, उसे सुनो--

मन्दिर के गुम्बद का दृष्टान्त

कोई एक धनवान गृहस्थ था। एक दिन उसने अपने मन में यह विचार किया कि मेरे पास बहुत धन है, अतः इस समय उसमें से थोड़ा-सा धन गुप्त करके कहीं रख दूँ तो कभी संकट का समय आने पर वह मेरे अथवा मेरी सन्तान के काम आयेगा। यह निश्चय कर उसने सिद्धेश्वर महादेव का एक मन्दिर बनवाया तथा उस मन्दिर के गुम्बद में ऐसी गुप्त रीति से, कि किसी की दृष्टि न पड़े,

उसने बहुत सा धन भरवा दिया। फिर उस धन के सम्बन्ध में उसने एक प्रथक् बही बना कर यह लिखा--'सम्वत् १७२५ विक्रमी वर्ष के उत्तरायण सूर्य, चैतमास के शुक्ल पक्ष की अष्ठमी के दिन, दो प्रहर दिन चढ़ने पर, सिद्धेश्वर महादेव के मन्दिर के गुम्बदमें पन्द्रह लाख रुपये की सोने की मुहरें रक्खी हैं, अतः जब उनकी आवश्यकता पड़े, तब निकाल लेना।'

इस प्रकार प्रबन्ध करके उसने उस बही को गुप्त स्थान पर रख दिया। तदुपरान्त कुछ वर्ष व्यतीत होने पर वह गृहस्थ यात्रा करने के लिए गया। वहाँ दैवयोग से परदेश में ही एक दिन वह बिना किसी से कुछ कहे-सुने मृत्यु को प्राप्त हो गया। वह अपने धन के सम्बन्ध में अपनी सन्तानों को भी कुछ नहीं बता सका। उसके पुत्र तथा साथी लोग उसकी क्रिया-कर्म करके घर लौट आये। कुछ समय बीतने पर उस गृहस्थ के लड़कों ने बड़े होकर व्यापार करना आरम्भ किया, परन्तु दुर्दैव के कारण उन्हें बारम्बार नुकसान उठाना पड़ा। उस हानि के कारण जब उन्हें धन की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने ऋण लेकर काम चलाया। परन्तु जब और अधिक नुकसान के कारण ऋण ली हुई रकम भी डूब गई, और ऋण लेने वाले लोग बारम्बार तगादा करके उन्हें दुःख देने लगे, तब उन्होंने अत्यन्त घबड़ा कर यह विचार किया--'हमारे पिता पैतृक-सम्पत्ति-वान् थे, अतः हमें उनके पुराने बही-खातों को देख कर यह पता लगाना चाहिए कि कहीं कुछ लोगों पर हमारा ऋण तो नहीं निकल रहा है। यदि निकल रहा हो तो हम उसे वसूल करने का उपाय करें, जिससे अपना काम चले।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने बाप-दादों के पुराने बही खातों को देखना आरम्भ किया। देखते २ उन्हें वह बही मिल गई, जिसमें मन्दिर के गुम्बद में पन्दह लाख

रुपये की स्वर्ण-मुहरें रखी होने की बात लिखी थी। उसे पढ़ते ही अत्यन्त आनन्दित हो, उन्होंने मजदूरों को बुलाकर शिव-मन्दिर का गुम्बद तुड़वाया। गुम्बद तो टूट गया, परन्तु स्वर्ण-मुहरों का कोई पता न चला। तब वे खिन्न होकर यह विचार करने लगे कि क्या बही में यह रकम झूठ लिखी गई है ? अथवा हमारी समझ में ही इसका अर्थ नहीं आया है ? यह सोचकर उन्होंने अपने मित्रों की राय से अन्य बही खातों को देखना आरम्भ किया, तब उन्हें उसी वर्ष में विभिन्न आसामियों के पास से पन्द्रह लाख रुपयों की अशर्फियों की वसूली जमा की हुई मिली। तथा खर्च के स्थान पर यह लिखा देखा कि 'पन्द्रह लाख रुपयों की अशर्फियों की तफसील अमुक बही में मन्दिर के गुम्बद के नाम से लिखी हुई है।' इस प्रकार पूरा विवरण देखकर वे सब आश्चर्य में आकर कहने लगे कि जमा-खर्च का हिसाब-किताब तो ठीक है और स्पष्ट लिखा हुआ है, फिर क्या कारण है जो यह बात झूठी बैठ रही है। बही में झूठी बात नहीं लिखी जा सकती इससे पता चलता है कि या तो गुम्बद में से किसी ने धन चुरा लिया है अथवा रखते समय ही कुछ गड़बड़ हो गई है। इस प्रकार संदिग्ध बातों को देखकर तथा धन न मिलने से वे सब अत्यन्त चिन्तित हुए तथा उस सम्बन्ध में विचार में डूबे रहे। वे जिस-तिस व्यक्ति को बही दिखाकर पूछते रहते, परन्तु बहुत समय तक उन्हें कोई पता नहीं चला। इस प्रकार बहुत दिन बीत जाने पर एक बार उन्होंने एक वृद्ध तथा बुद्धिमान मनुष्य के पास जाकर वह बही दिखाई तथा सब वृत्तान्त सुनाकर कहा—"हमें धन न मिलने की उतनी चिन्ता नहीं है, परन्तु देव मन्दिर का गुम्बद उतरवाने का बड़ा शोच है। सब लोग यही कहते हैं कि पिता ने तो मन्दिर बनवाया, परन्तु उसके पुत्र ऐसे निकले कि उन्होंने धन पाने

के लिए मन्दिर का शिखर ही उतरवा दिया। इस प्रकार की लोक-निन्दा सुनकर हमें अत्यन्त दुःख होता है। संसारमें ऐसा निन्दनीय जीवन बितानेसे तो मर जाना श्रेष्ठ है। ऐसी स्थितिमें अब यदि आप कोई उपाय जानते हों तो हमें बताइये जिससे हम इस दुःख से छुटकारा प्राप्त करें, अन्यथा मृत्यु के अतिरिक्त हमें अन्य कोई मार्ग दिखाई नहीं देता है। हमारे पास अब इतना पैसा भी नहीं है कि उससे मन्दिर का गुम्बद (शिखर) ठीक करवा दें। इसके अतिरिक्त लेनदारों के बारम्बार के तगादों से भी हमें कष्ट होता है। इन सब बातों के देखते हुए, आप हमें कोई उपाय बतलाकर इस सङ्कट से पार कीजिए।"

यह सुनकर उस बुद्धिमान, वृद्ध पुरुष के हृदय में दया उत्पन्न हुई, तब उसने यह उत्तर दिया--"अरे बालको! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। बही में जो कुछ लिखा है, वह अक्षरशः सत्य है। उसके अनुसार तुम्हें धन भी मिलेगा। परन्तु इसके पूर्व तुम मन्दिर के शिखर को ज्यों का त्यों ठीक करा दो। इस कार्य के लिए मैं तुम्हें धन दे दूँगा। गुम्बद जैसा था, वैसा ही बनवाना, उसमें कोई हेर-फेर न हो। तदुपरान्त जब चैत्र शुक्ला अष्ठमी आवे, तब तुम प्रातः काल ही मेरे पास आ जाना, उस दिन तुम्हारा काम हो जायेगा।"

वृद्ध-पुरुष की यह बात सुनकर तथा रुपया लेकर वे लड़के अपने घर लौट आये तथा मन्दिर के शिखर को ज्यों का त्यों बनवा कर चैत्र शुक्ला अष्टमी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। जब वह दिन आया, तब वे वृद्ध पुरुष के पास जाकर उसे अपने घर लिवा लाये तथा उसकी आज्ञानुसार उस दिन उन्होंने खूब उत्सव मनाया। तदुपरान्त जब मध्यान्ह काल हुआ, अर्थात् १२ बजे, तब उस वृद्ध

पुरुष ने यह कहा कि चलो तुम्हारे बाग में चलकर सिद्धेश्वर महादेव के दर्शन कर आवें। यह सुनकर वे सब उस वृद्ध पुरुष के साथ महादेवजी के दर्शन करने के लिए गये। दर्शन करने के पश्चात् प्रदक्षिणा करते समय, उस वृद्ध पुरुष ने जिस स्थान पर मन्दिर के गुम्बद की छाया पड़ रही थी, उस स्थान को दिखाकर यह कहा "हे बालको! इसी स्थान पर मन्दिर के गुम्बद की छाया पड़ रही है, अतः तुम इस जगह को खोदो तो तुम्हारा गढ़ा हुआ धन निकल आयेगा।" यह सुनकर उन लड़कों ने जब उस स्थान को खुदवाया तो उन्हें वहाँ पन्द्रह लाख रुपयों की सोने की मुहरें गढ़ी हुई दिखाई दीं। उस समय उन्हें जो आनन्द हुआ, उसे कैसे कहा जाय? इतना धन मिल जाने से वे पुनः सम्पत्तिवान् हो गये तथा उनका दुःख दूर हो गया।

हे शिष्य! देखो, बही में जो कुछ लिखा था, वह मिथ्या नहीं था। उसमें लिखे हुए अक्षरों को सभी पढ़ सकते थे, शब्दार्थ भी सब समझते थे, गुम्बद में अशर्फियाँ भी थीं, परन्तु उस वृद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी की समझ में वह बात नहीं आई। इसका कारण यही था कि सब लोग केवल बही को बाँचते थे, परन्तु उसमें लिखे 'चैत्र मास की अष्टमी के दिन दूसरे प्रहर बारह बजने पर गुम्बद में अशरफी रक्खी हैं' इस वाक्य के अभिप्राय को कोई नहीं समझ पाता था। परन्तु उस वृद्ध ने यह विचार किया कि मन्दिर के गुम्बद में पन्द्रह लाख रुपये की अशर्फियाँ नहीं रक्खी जा सकती हैं, क्योंकि इतने छोटे शिखर में इतनी अधिक अशर्फियों का रक्खा जाना असम्भव है। अतः वे भूमि पर पड़ने वाली शिखर की छाया में ही निश्चित रूप से रक्खी होंगी। इसके अनुसार मन्दिर के शिखर की छाया जिस स्थान पर पड़ती है, उस स्थान को ही

गुम्बद समझना चाहिए। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि बही में लिखे हुए समय के अतिरिक्त यदि किसी अन्य घड़ी अथवा तिथि में छाया के शिखर का अनुमान किया जायगा तो वह भी ठीक नहीं बैठेगा। अतः बही में लिखी हुई तिथि तथा समय पर ही शिखर की छाया वाले स्थान को खोदना उचित है, तभी खजाना मिलेगा। इस प्रकार उस बुद्धिमान वृद्ध पुरुष द्वारा बही के लेख का अभिप्राय जान लेने पर ही यथार्थ में धन की प्राप्ति हुई।

उपर्युक्त कथा का सिद्धान्त

इस प्रकार जो व्यक्ति संस्कृत अथवा प्राकृत आदि भाषा के वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़ना जानता हो तथा उनका यह शब्दार्थ भी समझता हो कि परमात्मा सर्वत्र पूर्ण, देहत्रयी का दृष्टा, अवस्थात्रयी का साक्षी, पंचकोशातीत, सच्चिदानन्दरूप है आदि, तथा यह भी जानता हो कि शरीर रूपी शिखर में सच्चिदानन्द आत्मारूपी धन का निवास है और यह बात सत्य है, एवं श्रुति-स्मृति, शास्त्रों रूपी बही के लिखे को समझता भी हो तो भी ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा शास्त्रों का तात्पर्य जाने बिना आत्म-स्वरूप धन की प्राप्ति कदापि नहीं होती है।

ब्रह्माजी के पुत्र नारद मुनि ऋग्वेद आदि चारों वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता थे, परन्तु आत्मज्ञान न होने के कारण शोक रूपी समुद्र में डूबे रहते थे। अन्त में दुःखी होकर जब वे सनत्कुमार रूपी सद्गुरु की शरण में गये, तब उनके उपदेश द्वारा उन्हें निरतिशय, सुखरूपपूर्ण आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) प्राप्त हुआ, जिससे वे शोक-हीन हो गये। इस कथा को छान्दोग्य उपनिषद् में विस्तारपूर्वक कहा गया है।

इस हेतु कहा है--

"सद्गुरु मुखे समझी लेजो। तो ब्रह्म सुख पामे आजो ॥"

पहिले कह आए हैं--"ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के उपदेश के बिना केवल अपनी बुद्धि तथा विचार द्वारा आत्मा का साक्षात् अपरोक्ष बोध नहीं होता है। इसलिए ऐसे सद्गुरु की शरण में जाकर, उनके द्वारा किए गये ब्रह्मज्ञान के उपदेश को मुमुक्ष अपने मन में निश्चल रूप से सदैव धारण करे। अब उस सद्गुरु का उपदेश निरूपण करते हैं--

॥ चौपाई ॥

मन निश्चल करि धारणा धरे। श्रवण मनन निदिध्यासन करे॥
तो साक्षात्कार तू पोते भाई। एमां सन्देह रहे न कांई॥

टीका--सद्गुरु मुमुक्ष पुरुष को जो उपदेश करे, उस उपदेश को शिष्य अपने मन में निश्चल (स्थिर) करके ध्यान लगावे। इस प्रकार मन स्थिर करने के सम्बन्ध में दृष्टान्त कहते हैं।

गुरु का उपदेश एकाग्रचित्त से धारण करने के सम्बन्ध में चार दृष्टान्त

(१)

मान लो, किन्हीं 'अ' और 'क' नामक दो गृहस्थों में परस्पर द्वेष चल रहा है। उनमें 'अ' एक दिन किसी 'ब' नामक अन्य पुरुष से अपने पड़ौसी 'क' के सम्बन्ध में कुछ निन्दा-स्तुति की बात करता है तो उस समय 'क' अपने सम्बन्ध में कही जाने वाली बात को सुनने के लिए 'अ' से छिपकर बैठ जाता है। उस बात को सुनने के लिए उसे धूप आदि का जो भी कष्ट उठाना पड़ता है, उस सब को वह सह लेता है, परन्तु अपना मन उस बात की ओर

से क्षण भर के लिए भी नहीं हटाता । सब बातों को दत्तचित्त होकर सुनता है तथा स्मरण रखता है । समय पड़ने पर उसको स्मृति भी उसे हो जाती है ।

इसी भांति मुमुक्षुओं को भी उक्त पुरुष की भांति सद्गुरु के उपदेश को सुनते समय अपना चित्त एकाग्र रखना चाहिए तथा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, मान, अपमान आदि को सहते हुए, गुरु के उपदेश के अतिरिक्त अपने मन को किसी अन्य काम में कदापि नहीं लगाना चाहिए ।

(२)

जिस प्रकार अपार धन प्राप्ति की कामना रखने वाला पुरुष अनेकों प्रकार के उपाय करता है। जब उससे कोई पुरुष यह कहता है कि मैं तुझे धन प्राप्त करने का उपाय बताता हूँ । यदि तू एकाग्रचित्त होकर उस उपाय को सुनेगा, तथा उसी के अनुसार आचरण करेगा, तो तुझे बहुत धन प्राप्त होगा। तब उसकी बात को सुनकर धन प्राप्ति की कामना रखने वाला पुरुष दत्तचित्त होकर उसके बताये हुए उपाय को सुनता है, उसी प्रकार, अथवा ।

(३)

जिस प्रकार स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को जब कोई स्वर्ग मिलने का उपाय बताता है, तब वह स्वर्ग का अभिलाषी जिस प्रकार एकाग्र मन से उसकी बात को हृदयंगम करता है, उस प्रकार अथवा –

विजय प्राप्त करने की कामना रखने वाले मनुष्य को जब कोई विजय प्राप्त होने का उपाय बताता है, तब वह उस उपाय को ध्यान लगा कर सुनता है, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष सच्चिदानन्द

आत्मा का बोध प्राप्त करने के लिए सद्गुरु के उपदेश रूपी वचनों को एकाग्रचित्त से ग्रहण करे तथा ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा कहे गये वेदान्त-वाक्य का श्रवण मनन एवं निदिध्यासन करे।

(४)

जिस प्रकार बन में कोई मनुष्य वाद्य-यन्त्र के साथ सुमधुर स्वर में संगीत का गान करता है, तथा उसे सुनने के लिए हिरण सब सुधि-बुधि बिसरा कर एकाग्रचित्त हो जाता है उसी प्रकार अपने चित्त को एकाग्र करके सद्गुरु के मुख से निकले हुए वेदान्त शास्त्र के शब्दों का तात्पर्य समझने की चेष्टा करे तथा उन्हें सुनने के पश्चात् इस प्रकार मनन करे कि जिससे सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जायें।

जिस भांति गौ चरने के पश्चात् निवृत्ति से बैठ कर रौंथ (पागुर) करती है और उसी से उसकी तृप्ति होती है, उसी प्रकार वेदान्त-वाक्यों का श्रवण करने के पश्चात् उन्हें एकान्त में बैठकर खूब मनन करने से दृढ़ बोध (पक्का ज्ञान) रूपी तृप्ति मिलती है।

जिस प्रकार बादाम, पिश्ता, शक्कर तथा अन्न आदि पदार्थों को जितना अधिक चबा कर खाया जाय, उतना ही अधिक स्वाद आता है तथा उसका पाचन भी उत्तम रीति से होकर, शरीर पुष्ट बनता है, उसी प्रकार वेदान्त का बारम्बार मनन करने से अनेक तात्पर्य का ज्ञान रूपी स्वाद प्राप्त होता है तथा आत्म ज्ञान पुष्ट (दृढ़) होता है।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर सजातीय प्रत्यय का प्रवाह एवं विजातीय प्रत्यय का तिरस्कार रूप निदिध्यास करना चाहिए

जिससे आत्मा का शुद्ध अनुभव प्राप्त हो। सजातीय प्रत्यय का प्रवाह यह है कि मैं सत्, चित्, आनन्द, कूटस्थ, अक्रिय, अजर, अमर, पूर्ण, नित्य, शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त रूप आत्मा हूँ। इसी प्रकार विजातीय प्रत्यय का प्रवाह यह है कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शू[द्र] नहीं हूँ; ब्रह्मचारी, [गृ]हस्थ, वाणप्रस्थ अथवा सन्यासी मैं नहीं हूँ; पुरुष, स्त्री, बालक, तरुण, सुखी, दुःखी, कर्त्ता तथा भोक्ता मैं नहीं हूँ (इसी को एक शब्द में 'देहाध्यास' कहते हैं) इस प्रकार के विचार द्वारा देहाध्यास का बारम्बार तिरस्कार करे।

हे शिष्य ! इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से तुझे ऐसा ज्ञान दृढ़ होगा कि, 'मैं आत्मा, निर्विकार, शद्ध एवं ब्रह्म-रूप हूँ'। ऐसा साक्षात्कार होने लगेगा, जिससे तेरे मुक्त होने में तिल भर भी सन्देह नहीं रहेगा।

पहिले कही हुई दूसरी चौपाई में शिष्य ने जन्म-मरण से निवृत्त होने के सम्बन्ध में पूछा था--'जन्म-मरण केम टलशे महारे"। इस प्रश्न का उत्तर भी पहिले ही 'सद्गरु कहे स्वस्वरूप जाण' इस चौपाई में संक्षेप में दे दिया गया है तथापि 'अहं ममेति' इस अर्ध-श्लोक की व्याख्या में सद्गरु ने निवृत्त होने का उपाय और विस्तारपूर्वक समझाया है।

गरु--"हे शिष्य ! तूने पहिले यह पूछा था कि, 'मेरा जन्म-मरण किस प्रकार टलेगा अर्थात् मेरा बन्धन किस प्रकार छूटेगा ?' अतः इस सम्बन्ध में तुझे यह पहिले ही समझा दिया है कि बन्धन क्या होता है तथा उससे मुक्ति प्राप्त करने का उपाय क्या है। जो अपने स्वरूप को ही नहीं पहिचानता कि बन्धन क्या है और वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, वह उससे निवृत्ति का

उपाय कैसे प्राप्त कर सकता है ? जिस प्रकार किसी रोग का कारण तथा स्वरूप पहिचाने बिना उसे नष्ट करने के लिए कोई औषधि नहीं दी जा सकती, उसी प्रकार यह बात भी है। अतः पहिले बन्धन के स्वरूप तथा कारण को जान लेना चाहिये। इसी लिए मैं तुझ से पूछता हूँ कि तूने अब तक पहिचाना है अथवा नहीं ?"

शिष्य—"हे गुरु ! 'बन्धन क्या है, कैसे होता है, उसे कौन किस प्रकार से करता है तथा उसकी निवृत्ति का उपाय क्या है ?' इनमें से किसी के भी सम्बन्ध में मैं नहीं जानता। अतः आप कृपा करके मेरे इस कष्ट का निवारण कीजिए।"

इस पर गुरु कहते हैं—

॥ श्लोकार्द्ध ॥

अहंममेत्ययं बन्धो, नाहं ममेति मुक्तता।

अर्थ—'मैं देह हूँ तथा देहादिक मेरे हैं' 'ऐसा जो समझा जाता है, वही बन्धन का स्वरूप है। यह बन्धन स्वस्वरूप के अज्ञान से होता है। अतः स्वस्वरूप का अज्ञान ही बन्धन का कारण है। इसके विपरीत 'देह इन्द्रियादिक अपनी नहीं है, तथा यह मैं नहीं हूँ" इस प्रकार समझना तथा अहंता—ममता की निवृत्ति का नाम ही 'मोक्ष' कहा जाता है।

शिष्य—"हे गुरु ! यह अहंता—ममता की निवृत्ति किस प्रकार होती है ?"

गुरु—"हे शिष्य ! साधन के द्वारा अहंता—ममता की निवृत्ति होती है।"

शिष्य—"हे गुरु ! मुझे बड़ा आश्चर्य है कि मैं जो भी साधन करता हूँ, उन सबों में 'मैं देह हूँ तथा देह मेरी है' यह

अहंता–ममता बनी ही रहती है, मिटती नहीं है। क्योंकि त्याग करने के कारण मैं त्यागी हूँ, योग करने के कारण मैं योगी हूँ, तप करने के कारण मैं तपस्वी हूँ तथा मैं तप करता हूँ आदि सम्पूर्ण कार्यों में मुझे स्व–विषयक अभिमान उत्पन्न होता है। इस प्रकार मैं जो भी साधन करता हूँ, उन प्रत्येक साधनों में 'मैं देह हूँ और देह मेरी है' इस भाँति की अहंता–ममता बनी ही रहती है। आप यह कहते हैं कि साधनों के योग से अहंता–ममता नष्ट हो जाती है सो कृपा कर यह बताइये कि वह किस प्रकार नष्ट होती है ?"

गुरु––"हे शिष्य ! देहादिकों की अहंता–ममता नष्ट करने के लिए तू जिन साधनों को कहता है वे सब विवेक तथा विचार द्वारा देखने पर अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि आत्मा तथा अनात्मा इनके सम्बन्ध में विवेक नहीं होता। तू जो साधन कह रहा है, उनसे अहंता–ममता कम नहीं होती अपितु दुगुनी बढ़ती है। इसका कारण यह है कि जिस जाति अथवा वर्ण का जीव होता है। उस जाति तथा वर्ण का दृढ़ अभिमान जन्म से ही उनके अन्तःकरण में जमा होता है। फिर उस अविवेक के कारण जब वह किसी पंथ का वेष धारण करता है, तो उसका भी अभिमान उत्पन्न होता है। विवेक आदि साधनों का त्याग करने के कारण वह अभिमान दूर नहीं होता, अपितु उल्टा बढ़ता जाता है। जब तक जीव गृहस्थाश्रम में रहता है, तब तक एकाध साधु (महात्मा) की नम्रतापूर्वक सेवा भी करता है, परन्तु उसे (गृहस्थाश्रम को) त्याग देने पर (सन्यासी हो जाने पर) उसे 'मैं त्यागी हूँ अर्थात् सब लोग मुझे एक साथ सम्मान दें तथा मेरा आदर-सत्कार करें' यह अविवेक-जन्य अभिमान बढ़ जाता है। ऐसे समय पर वह अविवेकी त्यागी या तो स्वयं को अन्य महात्माओं से बड़ा समझ उठता है

अथवा उनके बराबर का मानने लगता है। इस प्रकार का बढ़ा हुआ अभिमान उसके दुःख का कारण बन जाता है। इस सम्बन्ध में 'बिल्ली त्यागने पर ऊँट गले पड़े' की एक कहावत है। उस दृष्टान्त को मैं तुझे समझाता हूँ। सुन—

विचार के बिना अभिमान दुगुना बढ़ता है

इस सम्बन्ध में दृष्टान्त

एक घर में एक वृद्ध-स्त्री रहती थी। एक दिन एक बिल्ली उसके आँगन में आकर मर गई। उस मरी हुई बिल्ली को बाहर फेंकने का विचार करके उस बुढ़िया ने अपने घर के सब द्वार तो बन्द कर दिये, परन्तु उसकी मूर्खतासे आँगन के बाहर का मुख्य द्वार खुलारह गया। तदुपरान्त वह बुढ़िया मरी हुई बिल्ली को टोकरी में डाल कर गाँव के बाहर ले गई। वहाँ उसे फेंकने के पश्चात्, जब वह नदी में स्नान आदि करके घर को लौटी, तब तक एक रोगी ऊँट चलता-फिरता उसी के द्वार पर आकर मर गया। उसे देखकर बुढ़िया बहुत चिन्ता करने लगी 'हाय, यह कर्म का भोग भी क्या है ? जब तक मैं बिल्ली को फेंकने के लिए गई, तब तक यह ऊँट आकर और मर गया। बिल्ली को तो मैं फेंक आई, परन्तु इस ऊँट का भारी शरीर किस प्रकार उठा कर फेंका जा सकेगा ?' इस प्रकार अपनी ही मूर्खता से उसे यह दुःख और उठाना पड़ा।

इस न्याय के अनुसार जो लोग विचार, विवेक के बिना देहाभिमान रूपी बिल्ली को निकाल कर, त्याग (संन्यास) का उपक्रम करते हैं, उन्हें त्याग का अभिमान रूपी ऊँट गले पड़ता है। उस ऊँट का निकालना ही अत्यन्त कठिन होता है। इसलिये जिज्ञासा के बिना, अधिकार के बिना तथा विधि के बिना, केवल वेष

धारण करने से किया सकाम जप आदि अन्य साधनों द्वारा अहँता ममता रूपी बन्धनों की निवृत्ति कभी नहीं होती।

शिष्य–"हे प्रभो ! जब जप, तप, दान आदि साधनोंसे अहंता ममता का नाश नहीं होता, तब आप कृपा करके यह बताइये कि किन साधनों द्वारा इनकी निवृत्ति होती है ?"

गुरु–"हे शिष्य ! विवेक आदि साधन से सम्पन्न होकर वृह्मनिष्ठ गुरु की शरण प्राप्त होने तथा सद्गुरु के उपदेश द्वारा आत्मा तथा अनात्मा के विचार से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके द्वारा अहंता–ममता की निवृत्ति होती है। उस ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार है कि, यह देह पंचभूति का कार्य है, अतः यह अनात्मा है और घट के समान दृष्य है। जिस प्रकार घट का दृष्टा घट से भिन्न है, उसी प्रकार देह का दृष्टा जो अपना आत्मा है वह देह से पृथक है। देह जड़ है तथा मैं चैतन्य हूँ, देह विकारी है और मैं निर्विकार हूँ; देह क्रियावान, संगवान तथा मलिन है और अपना आत्मा अक्रिय, असंग और निर्मल है अर्थात् देह अपनी नहीं है। जब मैं देह नहीं हूँ, तब देह में कल्पित ब्राह्मण आदि चार वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम तथा बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धा-वस्था, स्थूलता, कृशता, ह्रस्वता, दीर्घता, श्यामता, गौर वर्ण, आदि देह के जो अनेक धर्म तथा स्वरूप हैं, उनमें से एक भी मुझ आत्मा में नहीं है। इस प्रकार का विचार होने पर ही देह से अहंता-ममता की निवृत्ति होती है। देवदत्त, विष्णुदत्त आदि नाम भी देह से व्यवहार सिद्ध करने के लिये कल्पित हैं, आत्मा में नहीं हैं। तो भी आत्मा को देह से पृथक न जानने के कारण, देह के कल्पित नाम को आत्मा का ठिकाना जान कर, जीव ने जो अभिमान किया है, उसकी विवेक पूर्वक युक्ति से निवृत्ति करना चाहिये।

उस ज्ञान का स्वरूप ऐसा है, "तू कौन है ?" इस प्रकार किसी के पूछने पर तू यह उत्तर देता है कि "मैं देवदत्त हूँ" परन्तु यदि विचार कर देखे तो तुझे पता चलेगा कि तेरे स्थूल शरीर का यह नाम देवदत्त इस देह के जन्म होने के बाद दसवें या बारहेवें दिन पड़ा था। जब देह ने जन्म लिया था, तब इसे किसी ने देवदत्त नाम से नहीं पुकारा था। यदि कोई यह कहे कि "इस देह में देवदत्त कौन है, उसे मुझे दिखाओ" तब हाथ से ऐसा नहीं बतलाया जा सकता कि देवदत्त यह है, क्योंकि जहाँ भी हाथ लगाया जायेगा, वहाँ मस्तक, मुख, कंधा, पीठ, पेट, कमर, जंघा, घुटना, हाथ, पाँव इत्यादि मिलेगा। देवदत्त का पता कहीं न चलेगा। इस प्रकार जब देह का नाम देह में ही सिद्ध नहीं होता है, तब देह से पृथक आत्मा में देवदत्त नाम का पता किस प्रकार लग सकता है ?

शिष्य—"हे गुरु, मैं आत्मा देह से किस प्रकार भिन्न हूँ ? यह आप मुझे कृपा कर बतावें, ताकि मैं स्पष्ट रूप से समझ सकूँ।"

गुरु—"हे शिष्य ! ठीक है, तू जो यह कहता है कि मैं अपने पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों को इस जन्म में भोग रहा हूँ तथा इस जन्म के किये हुए कर्मों को अगले जन्म में भोगूँगा, तो इस पर विचार करके देखने से तुझे यह पता चलेगा कि यह जो तेरी स्थूल देह है, वह न तो पहले थी और न कभी आगे रहेगी। अभी तू माता के गर्भ से नया ही उत्पन्न हुआ है, परन्तु तू कर्मों का भोक्ता इस देह से पृथक है, क्योंक पहले भी इस देह से तू भिन्न था और जब इस देह का नाश हो जायेगा, तब भी इस देह द्वारा किये हुए कर्मों से पृथक रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि यह स्थूल देह आत्मा नहीं है। भला तू इसे समझता है अथवा नहीं ?

"अब हम तुझे इसी बात को एक अन्य प्रकार से सिद्ध करके दिखाते हैं। तू कहता है कि देह मेरा है, हाथ मेरा है, पैर मेरा है, सिर मेरा है आदि, परन्तु यह नहीं कहता कि मैं देह हूँ, मैं हाथ हूँ, मैं पांव हूँ, अथवा मैं सिर हूँ। जिस प्रकार मेरा घर, मेरा बंगला, मेरा बाग "आदि कहा जाता है, परन्तु मैं घर हूँ, मै बँगला हूँ, मैं बाग हूँ आदि नहीं कहा जाता, इससे यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि मेरा है" कहने वाला पुरुष उन सब पदार्थों से अलग होता है। इस सम्बन्ध में हम तुझसे एक अन्य दृष्टान्त कहते हैं, उसे सुन—

देह से आत्मा भिन्न है, इस सम्बन्ध में देह तथा घर की सादृश्यता का दृष्टान्त

जिस प्रकार घर में द्वार खम्भ, खिड़की, छत्त आदि होते हैं, भीत ईंट, पत्थर अथवा चूने से वनी हुई होती है और उस पर सफेद लाल, काला आदि रंग किया हुआ होता है, और जिस प्रकार छप्पर फूँस तथा मिट्टी वाले घरों पर छोटी–छोटी घास उग आती है, परन्तु उस घर में रहने वाला पुरुष स्वयं घर नहीं होता, वह घर से अलग है तथा अपने को घर कहता भी नहीं है, उसी प्रकार इस देह रूपी घर में हड्डियाँ, बल्ली तथा सोटों के समान हैं और हाथ पाँव रूपी खम्भों पर यह घर खड़ा हुआ है। छोटी-छोटी हड्डियों को ईंट तथा पत्थर के समान समझना चाहिये। रक्त मांसरूपी चूने तथा मिट्टीसे मिल कर यह देह रूपी घर तैयार हुआ है। गोरापन तथा कालापन घर के रंग के समान है। आँख, कान, नाक मुख आदि को घर के द्वार तथा खिडकियां समझना चाहिये। इस शरीर रूपी घर पर रोऐं घास के समान खड़े हुए हैं। इस प्रकार जो देह रूपी घर है उसका दृष्टा तू आत्मा इस घर से सर्वथा भिन्न है। अतः ऊपर कहे हुए विचार के अनुसार ध्यान रखने पर ही अहंता-ममता रूपी अभिमान

नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नष्ट नहीं होता।"

शिष्य-"हे गुरु ! आपकी बताई हुई रीति के अनुसार विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि मैं देह नहीं हूँ तथा इस प्रकार देह रूपी अहन्ता का नाश होता है, परन्तु आप के कहे द्वारा दृष्टान्त से 'देह मेरा है, ऐसी ममता के छूटने की बात अनुभव में नहीं आती। जिस प्रकार घट को देखने वाला स्वयं को घट नहीं मानता परन्तु 'घट मेरा है' यह कहता है तथा जिस प्रकार घर में रहने वाला स्वयं को घर नहीं मानता, परन्तु 'घर मेरा है' यह मानता हैं। उसी प्रकार 'देह का दृष्टा मैं नहीं हूँ" परन्तु 'यह देह मेरा है' ऐसा कहने से ममत्व तो रहता ही है। अतः जिस उपाय से यह ममत्व भी नष्ट हो जाय, उसे आप मुझ से कहने की कृपा करें।"

गुरु-'हे शिष्य ! जिस प्रकार तू देह नहीं है, उसी प्रकार यह देह भी तेरा नहीं है। इसका कारण यह है कि यह देह पंच महाभूतों का है। तू जो इसे अपना कहता है, यह तेरा अज्ञान है। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी का होता है और तू उसे अपना कहता है, उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये। जिस प्रकार घर लकड़ी पत्थर, चूना आदि का होता है, परन्तु तू उसे अपना कहता है, उसी प्रकार हड्डी, माँस. त्वचा, नाड़ी आदि से बने हुए इस भौतिक शरीर को तू अपना कह कर बड़ी भूल करता है। उत्तम जाति का मनुष्य इस हाड़-चाम की कभी अपना नहीं कहेगा, परन्तु तू अपनी भूल के ही कारण यह कहता है कि यह हड्डा तथा चमड़े को देह मेरी है और मैं देह हूँ। ऐसा विश्वास रखना भी तेरे बन्धन का कारण है। जिस देह को तू अपनी कहता है, वह पंच भूतों की है,

अतः ऐसा कहने के कारण पंचभूत भी तुझे अवश्य दुख देगें। जब संसार में कल्पित भूत के भय से मनुष्य का दुःख उठाना पड़ता है, तब इन पंच महाभूतों की देह से ममता करने पर, यह महाभूत तुझे कब छोड़ देंगे ? पराई वस्तु में ममता करने वाला कभी सुखी नहीं होता, यह निश्चय जानों। उसे सदैव दुख ही मिलता है। इस सम्बन्ध में हम तुझ से एक दृष्टान्त कहते हैं, उसे सुनो–

पराई वस्तु में ममत्व रखने से बन्धन की प्राप्ति का दृष्टान्त

किसी धनवान् गृहस्थ की भागवत् सप्ताह, हरि-कीर्तन, वेद परायण, यज्ञ, ब्राह्मण-भोजन किंवा सजातीयों को भोजन कराने सम्बन्धी इच्छा उत्पन्न हुई, परन्तु अपने रहने के घर में स्थान कम होने के कारण उसने शुभ कार्य को किसी पंचायती स्थान में करने का विचार किया। इस हेतु वह पंचों से स्थान माँग कर एक बड़े मकान में कुछ दिनों के लिये अपने परिवार सहित जाकर रहने लगा। कुछ दिन पश्चात् उस स्थान में रहते हुए ही उसने लोभ आदि के वशीभूत होकर शुभ कार्य करने का विचार त्याग दिया। परन्तु उस स्थान में जगह बहुत होने के कारण उसे बहुत सुख मिला था, इसलिये बहुत समय तक वह उसी पंचायती जगह में रहता रहा। फिर तो उसकी इच्छा वहाँ से निकलने को ही नहीं हुई। जब उसे वहाँ रहते हुए बहुत दिन बीत गय, तब पंचों ने किसी मनुष्य द्वारा उसके पास स्थान खाली कर देने की सूचना भेजी। परन्तु उस स्थान पर अधिक सुख मिलने के कारण उस गृहस्थ ने पंचों की आज्ञा नहीं मानी और उस घर को खाली नहीं किया।

उस धनवान् गृहस्थ के इस प्रमाद को देखकर, सब पंचों ने मिलकर उसे एक स्थान पर बुलाया, परन्तु वह अनेक प्रकार के

बहाने करके उनसे मिलने के लिये भी नहीं गया, अपितु उल्टा यह कहलवा भेजा कि तुम लोग इस मकान के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये मेरे पास किसी आदमी को क्यों भेजते हो ? यह स्थान तो मेरा है, इसमें तुम्हारा क्या लगता है ? उस धनवान् का ऐसा उत्तर सुनकर पंचों ने अपने मन में विचार किया कि अभी कुछ दिनों तक उसे वहीं और रहने देना चाहिये, अन्त में वह स्वयं ही मकान को खाली कर जायेगा।

इस प्रकार पंचों द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर भी जब बहुत समय तक उस गृहस्थ ने मकान को खाली नहीं किया, तब पंचों ने सरकार के यहाँ दावा करके उस गृहस्थ को पकड़वा कर, कचहरी में न्यायाधीश के सामने बुलवा लिया। जब न्यायाधीश ने उससे पूछा कि तुम पंचायती स्थान को खाली क्यों नहीं करते हो ? तब उसने यह उत्तर दिया कि वह स्थान तो मेरा है, पंचों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सुनकर न्यायाधीश ने कहा कि यदि वह स्थान तेरा है तो तू इस बात को प्रमाणित करने के लिये साक्षीपत्र इत्यादि की लिखा पढ़ी उपस्थित कर। उस गृहस्थ के पास इस बात का कोई प्रमाण तो था ही नहीं, अतः जब वह इस सम्बन्ध में उल्टी-सीधी बातें कहने लगा, तब न्यायाधीश ने उसे कैद करके यह आज्ञा दी कि जब तक यह पंचायती स्थान को खाली न करे, तब तक इसे बन्धन में रक्खा जाय।

उपर्युक्त दृष्टान्त का सिद्धान्त

जीव रूपी धनी पुरुष को मोक्ष प्राप्त करने के लिए शुभ-कर्म करने की इच्छा हुई परन्तु देव गन्धर्व आदि शरीरों में भोग की आसक्ति के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ती नहीं हुई। फिर जब उससे पशु-पक्षी आदि की देह पाकर अत्यन्त अज्ञान रूपी शरीर को

धारण किया, उस समय उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति असम्भव दिखाई देने लगी। ऐसी स्थिति में उसने आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये मनुष्य का शरीर मांगा, क्योंकि मनुष्य का शरीर ही मोक्ष का द्वार है। जब पंच महाभूतों ने उसे मनुष्य का शरीर दे दिया, तब वह इस शरीर को पाकर विषयों की तृष्णा तथा आसक्ति में पड़कर मोक्ष रूपी कार्य का सम्पादन करना भूल गया। इसके विपरीत वह यह समझने लगा कि यह शरीर मेरा है। जब पंचमहाभूतों ने शास्त्र रूपी सम्वाद-वाहक द्वारा उसके पास यह समाचार भेजा कि यह देह पंचभूतों की है, अतः तू इसमें ममत्व और अभिमान मत कर। तब वह विषयासक्त जीव शास्त्र की कुछ भी परवाह न करके देह में ही अपना ममत्व बनाये रहा। जब किसी स्नेही, सच्चे मित्र तथा सच्चे पुरुष ने उसे वेदान्त सुनने का उपदेश किया तो वह समयाभाव आदि की उल्टी-सीधी बातों के बहाने बनाकर बराबर टालता और अनादर करता रहा। यह देखकर पंचभूतों ने पहले तो यह विचार किया यदि आज नहीं तो कुछ दिन बाद आत्मतत्व का विचार करके यह हमारी देह हमें सौंप देगा, परन्तु बहुत समय बीतने पर भी जब जीव ने उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया, तब उन पंच महाभूतों ने यमराज के पास जाकर उस जीव के ऊपर नालिश करदी। पंच महाभूतों ने यमराज को यह बताया कि इस अज्ञानी जीव ने मोक्ष सम्पादन करने के लिये हमसे मनुष्य देह को माँगा था, परन्तु अनेक बार क्षमा करने पर भी न तो इतने मोक्ष सम्पादन का कार्य किया और न इसने हमारी देह को ही हमें वापिस लौटाया। अब यह इस देह का स्वयं स्वामी बन बैठा है और हमें अँगूठा दिखाता है, अतः हे यमराज! आप न्याय करके हमारी देह को इससे वापिस दिलवा दीजिये। पंच महाभूतों की प्रार्थना पर जब

यमराज ने अपने दूत भेज कर उस जीव को अपने न्यायालय में बुलाया, उस समय वह पंचों के सामने जैसे बहाने बनाया करता था, वैसे बहाने न बना सका। इसके विपरीत स्त्री, पुत्र आदि सम्बन्धियों को रोता हुआ छोड़कर, यमदूतों के साथ यमलोक में जा पहुँचा। जब यमराज ने उससे कहा कि हे अज्ञानी जीव ! तू पंचभूतों की देह को वापिस क्यों नहीं लौटाता है, उस समय जीव ने यह उत्तर दिया कि यह देह तो मेरी है, इसमें पंचभूतों का क्या लगता है ? अस्तु जब पंचभूतों ने प्रमाण से सिद्ध करके यह बताया कि यह स्थूल तथा सूक्ष्म देह हमारी है और उन्होंने साक्षी के रूप में चार वेद, छः शास्त्र तथा अठारह पुराण आदि सद् ग्रंथों को उपस्थित किया और कहा कि यह अज्ञानी जीव किसी भी प्रमाण द्वारा देह को अपनी सिद्ध नहीं कर सकता, तब यमराज ने उस अज्ञानी जीव को पराई वस्तु पर अपना अधिकार जमाने के दोषमें चौरासी लाख योनियों रूपी कारागार में डाल दिया तथा यह आज्ञा दी कि जब तक यह जीव पंचभूतों की देह पंचभूतों को न सौंपे, तब तक इसी कारागृह में पड़ा रहे।

अतः हे शिष्य ! यह देह पंचभूतों की है, इसलिये इसे अपना न जान कर पंचभूतों को ही सौंप देना चाहिये। इस कथन का तात्पर्य यह है कि देह दृश्य है। अतः 'मैं देह नहीं हूँ और यह पंच भूतों की होने के कारण मेरी भी नहीं है' इस प्रकार का विवेक धारण कर देह के प्रति अहन्ता-ममता को त्याग दे।"

शिष्य—"हे गुरु ! आप ने यह कहा कि 'यह देह पंचभूतों की है, तू इसका दृष्टा है, अतः तू देह नहीं है और यह पंचभूतों की होने के कारण तेरी भी नहीं है' इन बातों को मैंने सुना। अब आप मुझे यह बताइये कि पंचभूत किसे कहते हैं, क्योंकि मैं नहीं जानता हूँ। आप समझाने की कृपा करें।"

गुरु–"हे शिष्य ! आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी, इन्हीं को पंच महाभूत कहा जाता है ।"

शिष्य–"हे गुरु ! आपके कहे अनुसार यदि यही पंचभूत हैं तो मेरे शरीर में तो इनका कुछ भी भाग दिखाई नहीं देता, फिर मैं इस बात को किस प्रकार मान लूँ कि यह देह पंच महाभूतों की है ?"

गुरु–"हे शिष्य ! जब तू इस पर विचार करेगा तो सब बात तेरी समझ में आ जावेगी । इस शरीर में जितने भी भाग कठोर है, वे सब पृथ्वी के हैं । जो भाग द्रवीभूत हैं वे जल के हैं, जो भाग उष्ण हैं, वे सब तेज के हैं । चलने-फिरने आदि की क्रियायें वायु के योग से होती हैं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियायें वायु की हैं और शरीर में जितना भाग खाली है, वह सब आकांश का है ।"

शिष्य–"हे कृपालु ! यह देह पंचभूतों की है, इसे आपने संक्षेप में तो बताया परन्तु अब विस्तारपूर्वक यह बताने की कृपा कीजिये कि इस स्थूल देह में पंचभूतों के अलग–अलग तत्त्व कौन–कौन से हैं ?"

गुरु–"हे शिष्य ! स्थूल देह के तत्वों को पृष्ठ ५७ को कोष्टक में दिखाया गया है ।

"हे शिष्य ! आकाश के काम, क्रोध, शोक, मोह तथा भय ये पाँच तत्व हैं । यह सब हृदय रूपी आकाश में उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें आकाश का तत्व कहा जाता है । इसे तू जानता है अर्थात् तू यह तत्व नहीं है और आकाश के होने के कारण यह तेरे तत्त्व नहीं हैं । तू इनका दृष्टा है और यह पाँचों तत्त्व बन्धन द्वारा अत्यन्त दुःख देने वाले प्रसिद्ध हैं । यह विचार करके तू काम

आदि का त्याग कर दे, इसी में तेरी भलाई है। काम में आसक्त होने के कारण रावण को अत्यन्त दुःख प्राप्त हुआ था और उसका राज्य भी नष्ट हो गया था, इसलिए काम का सदैव त्याग करना चाहिए।

स्थूल देह के तत्वों का कोष्टक

आकाश का	वायु का	तेज का	जल का	पृथ्वी का
काम	चलन	क्षुधा	शुक्र	अस्थि
क्रोध	वलन	तृषा	रक्त	मांस
शोक	धावन	आलस्य	लार	त्वचा
मोह	प्रसरण	निद्रा	मूत्र	नाड़ी
भय	संकोचन	कान्ति	स्वेद	रोम

क्रोध राक्षस से भी अधिक घातक है, क्योंकि राक्षस तो केवल दूसरों का ही रक्त पीकर रहता है, परन्तु क्रोधी मनुष्य अपना तथा पराया दोनों का ही रक्त पीता है अर्थात् दोनों से ही जलता रहता है। राक्षस तो अपने कर्म में रात्रि को ही प्रवृत्त होता है, परन्तु क्रोधी दिन और रात दोनों समय क्रोध में

डूबा रहता है। राक्षस तो दूसरों को ही भयभीत करता है, स्वय भय नहीं पाता, परन्तु क्रोधी मनुष्य दूसरों को भी भयभीत करता है और स्वयं भी भयभीत रहता है। इसीलिए क्रोधी मनुष्य को राक्षस से भी अधिक नीच समझकर त्याग देना चाहिए।

इसी प्रकार शोक, मोह तथा भय भी दुःख देने वाले हैं। इस बात को प्रत्येक प्राणी अनुभव से सिद्ध जानता है। अतः इनको भी त्याग देना चाहिए और इनमें भूल कर भी अहंता-ममता नहीं रखनी चाहिए।

यद्यपि यह पाँचों ही तत्व सूक्ष्म देह के धर्म हैं, स्थूल देह के नहीं; परन्तु इनका अमङ्गल स्थूल शरीर में प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः इन्हें स्थूल शरीर का तत्व भी समझना चाहिए। इसीलिए इन्हें स्थूल देह के तत्व के समान कहा गया है।

वायु के पाँच तत्त्व हैं। इनके नाम चलना, जलना, दौड़ना फैलना और संकुचित होना हैं। किसी-किसी स्थान पर जलने को उठना भी कहा गया है। इन पाँचों तत्त्वों को भी तू जानता है, अतः यह तत्त्व तू नहीं है। यह तत्त्व वायु के हैं; अतः तेरे भी नहीं हैं। वायु के बिना चलना-फिरना आदि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, इसलिए इन्हें वायु का तत्त्व कहा गया है। तू इनका दृष्टा है अतः दृश्य नहीं हो सकता। तू इन सबका साक्षी है, अतः इनमें से अहंता-ममता को त्याग दे।

तेज के भी पाँच तत्त्व हैं। उनके नाम क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा एवं कान्ति हैं। यह पाँचों ही तेज अर्थात् अग्नि के भाग हैं, जो स्पष्ट अनुभव में आते हैं। कारण, जब तक पेट में अग्नि प्रबल नहीं होती, तब तक भूख नहीं लगती। उष्ण काल

अर्थात् गर्मी के दिनों में अग्नि प्रबल होने के कारण अधिक प्यास लगती है तथा आलस्य और निद्रा भी अधिक होते हैं। नींद से अन्न का पाचन होता है। इसीलिए सोना तथा आलस्य यह दोनों भी अग्नि के भाग हैं। कान्ति भी तेज (अग्नि) का भाग है जो स्पष्ट दिखाई देता है। तू इन सब तत्त्वों को देखने तथा जानने वाला दृष्टा एवं साक्षी है, अतः तू यह नहीं है और तेज के भाग होने के कारण यह तेरे नहीं हैं। ऐसा समझ कर तुझे इनमें से भी अहंता और ममता को त्याग देना चाहिए।

जल के भी पाँच तत्त्व हैं। उनके नाम शुक्र अर्थात् वीर्य, रक्त अर्थात् खून, लाला अर्थात् लार, मूत्र तथा स्वेद अर्थात् पसीना हैं। यह पाँचों प्रत्यक्ष जल रूप हैं। अतः तू यह नहीं है। जल के होने के कारण यह तत्त्व तेरे नहीं हैं। तू इनका दृष्टा और इनसे भिन्न है, अतः तुझे इनमें से अहंता-मतता को त्याग देना चाहिए।

पृथ्वी के भी पाँच तत्त्व हैं। उनके नाम हैं अस्थि अर्थात् हड्डी, माँस, त्वचा अर्थात् चमड़ी, नाड़ी अर्थात् शिराएँ एवं रोम अर्थात् बाल। यह पांचों तत्त्व पृथ्वी के हैं, क्योंकि जिस समय स्थूल शरीर से प्राण निकल जाता है, उस समय आकाश, वायु, तेज तथा जल इन चारों भूतों के काम, क्रोध आदि विभाग आकाश आदि भूतों में मिल जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मृतक शरीर में काम, क्रोध आदि आकाश के तत्त्व नहीं रहते, एवं चलना, फिरना आदि वायु के तत्त्व, क्षुधा, तृषा आदि तेज के तत्त्व तथा शुक्र, शोणित आदि जल के तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। केवल अस्थि माँस, त्वचा, नाड़ी, रोम आदि पृथ्वी के तत्त्व ही दृष्टिगोचर होते हैं। मृतक शरीर को जला देने पर यह तत्त्व भी नष्ट हो जाते

हैं। यदि देह को गाढ़ दिया जाय तो भी वह गल कर मिट्टी का रूप बन जाती है। इसके अतिरिक्त यदि उसे पशु-पक्षी खा लें तो भी विष्ठा बन कर अन्त में मिट्टी में मिल जाती है। अतः इस प्रकार यह पाँचों तत्त्व पृथ्वी के हैं। तू इनका जानने वाला है, अतः यह तत्त्व तू नहीं है और न यह तेरे ही हैं। तू इनका दृष्टा साक्षी हैं, अतः तू इनसे भिन्न है।

ऊपर कहे गए पंच महाभूतों के पच्चीस तत्त्वों से इस स्थूल देह का निर्माण हुआ है, अतः यह देह पंचीकृत है, ऐसा जानकर तू इस देह से अहंता-ममता को त्याग कर, अपने आत्म स्वरूप में आनन्द को प्राप्त कर।"

शिष्य--"हे सद्गुरु ! आपने पंचीकृत पंच महाभूतों के सम्बन्ध में कहा। अब यह बताने की कृपा कीजिए कि यह पंचीकृत पंचमहाभूत क्या हैं ?"

गुरु--"हे शिष्य ! ईश्वर की इच्छा से प्रत्येक भूत के पहले दो- दो भाग हुए। उनमें से सब भूतों के एक-एक भाग तो अलग रहे, शेष दूसरे भागों में से प्रत्येक के चार-चार भाग हुए। तदनन्तर यह चार.चार भाग अपने-अपने आधे-आधे भाग को त्याग कर, अन्य चार भूतों के आधे-आधे भागों में मिल गए। इसी क्रिया को पंचीकरण कहते हैं। इस प्रकार से जिनका पंचीकरण हुआ है, उन्हें पंचीकृत पंचमहाभूत कहा जाता है। इन पंचीकृत पंचमहाभूतों से उपर्युक्त पच्चीस तत्त्व प्रकट हुए हैं, जिनसे स्थूल देह की उत्पत्ति हुई है। इस स्थूल देह के पच्चीस तत्त्वों को पंचीकरण की रीति से निम्नलिखित कोष्टक में समझाया गया है---

स्थूल देह के पंचीकृत पच्चीस तत्वों को समझाने के लिए कोष्टक का स्पष्टीकरण

पंचभूत	पृथ्वी	जल का	अग्नि का	वायु का	आकाश का
पृथ्वी का	अस्थि	रक्त	आलस्य	संकोचन	कटयाकाश
जल का	मांस	वीर्य	कान्ति	चलन	उदराकाश
अग्नि का	नाड़ी	मूत्र	क्षुधा	उत्क्रमण	हृदयाकाश
वायु का	त्वचा	स्वेद	तृषा	धावन	कण्ठाकाश
आकाश का	रोम	लार	निद्रा	प्रसरण	शिराकाश

पृथ्वी के तत्व

पृथ्वी के भागों में अस्थि मुख्य है, क्योंकि यह पृथ्वी के समान ही कठिन है। अतः पृथ्वी का आधा भाग इसी को समझना चाहिये। जो आधा भाग शेष रहा उसके निम्नलिखित चार भाग हुए--

१–शोणित, २–आलस्य, ३–संकोचन, ४–कटयाकाश। यह चारों भाग जल आदि चार भूतों में मिल गये। उसे इस प्रकार समझना चाहिए–

१–शोणित–रक्त का रंग लाल है, अतः यह पृथ्वी का भाग है। यह जल में मिला, अतः इसे जल के तत्वों के साथ कहा गया है।

२–आलस्य–पृथ्वी के समान आलस्य में भी जड़ता है अतः यह पृथ्वी का भाग है। तेज से मिलने के कारण इसे तेज के तत्त्व के समान कहा गया है।

३–संकोचन–यह भी पृथ्वी के समान जड़ता का हेतु है, इसलिए यह पृथ्वी का भाग है; परन्तु यह वायु के साथ मिला है, अतः इसकी गणना वायु के तत्त्व के समान होती है।

४–कट्याकाश–यह पृथ्वी के भाग मल को रखता है, अतः यह पृथ्वी का भाग है, परन्तु आकाश में मिलने के कारण यह आकाश का तत्त्व कहलाता है।

जल के तत्त्व

वीर्य–जल का मुख्य आधा भाग है। जिस प्रकार जल श्वेत है और वृक्ष आदि को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वीर्य भी श्वेत है और गर्भ को उत्पन्न करता है, अतः इसको जल का भाग समझना चाहिए। जल का जो आधा भाग शेष रहा, उसके निम्नलिखित चार भाग हुये––

१–मांस, २–कान्ति, ३–चलन, ४–उदराकाश। यह चारों भाग पृथ्वी आदि चार भूतों में मिल गये, उसे इस प्रकार समझना चाहिये—

१–मांस–यह द्रवीभूत है, अतः जल का भाग है, परन्तु यह पृथ्वी के तत्वों के साथ मिला, इसलिए पृथ्वी का तत्व समझा जाता है।

२–कान्ति–यह जल का भाग है, क्योंकि जल के सम्बन्ध से कान्ति में हेर फेर होता रहता है, परन्तु यह तेज के साथ मिल गई है, अतः इसे तेज का तत्त्व कहा जाता है।

३–चलन– यह पानी के समान चलायमान है, अतः यह जल का भाग है, परन्तु वायु तत्त्व के साथ मिलने के कारण वायु का तत्त्व कहलाता है।

४–उदराकाश–जलके रहने का स्थान है अतः यह जल का भाग है, परन्तु वायु तत्त्व के साथ मिलने के कारण यह वायु का तत्त्व कहलाता है।

तेज के तत्व

क्षुधा–यह तेज का मुख्य आधा भाग है, क्योंकि पेट में अग्नि प्रवल होने पर ही भूख लगती है। तेज के शेष आधे भाग में से निम्नलिखित चार भाग हुए––

१–नाड़ी, २–मूत्र, ३–उत्क्रमण, ४–हृदयाकाश। यह चारों भाग पृथ्वी आदि शेष चार तत्त्वों के साथ मिल कर, उन्हीं के भाग कहलाये। उसे इस प्रकार समझना चाहिये––

१–नाड़ी–इसके द्वारा ज्वर की परीक्षा होती है, अतःयह तेज का भाग है, परन्तु पृथ्वी के तत्त्व के साथ मिलने के कारण पृथ्वी का तत्त्व कहा जाता है।

२–मूत्र–यह ऊष्ण हाने के कारण तेज का भाग है, परन्तु जल तत्त्व के साथ मिलने से जल का तत्त्व कहलाता है।

३–उत्क्रमण–इसमें अग्नि के समान ऊर्ध्वगति है, अतः यह तेज का भाग है, परन्तु वायु तत्त्व के साथ मिलने के कारण इसे वायु का तत्त्व कहा जाता है।

४–हृदयाकाश–हृदय में सदैव उष्णता रहती है, अतः यह तेज का भाग है, परन्तु आकाश तत्त्व के साथ मिलने के कारण आकाश का तत्त्व कहा जाता है।

वायु के तत्व

धावन (दौड़ना)–यह वायु का मुख्य आधा भाग है, क्योंकि दौड़ने में वायु के समान वेग होता है। वायु के शेष आधे भाग के निम्नलिखित चार विभाग हुए—

१–त्वचा, २–स्वेद, ३–तृषा, ४–कण्ठाकाश। यह चारों भाग अन्य चार तत्त्वों के साथ मिल कर, उन्हीं के भाग कहलाये। उसे इस प्रकार समझना चाहिये—

१–त्वचा–इससे शरीर का स्पर्श होता है, अतः यह वायु का भाग है, परन्तु पृथ्वी तत्त्व के साथ मिलने के कारण इसे पृथ्वी का तत्त्व कहा जाता है।

२–स्वेद–श्वासोच्छ्वास रूप वायु उत्पन्न होने के कारण यह सूखता है, अतः यह वायु का भाग है, परन्तु जल तत्त्व के साथ मिलने के कारण जल का तत्त्व कहा जाता है।

३–तृषा–वायु के संयोग से प्यास उत्पन्न होती है, अतः यह वायु का भाग है, परन्तु तेज तत्त्व के साथ बराबर मिलने के कारण इसे तेज का तत्व कहा जाता है।

४–कण्ठाकाश–वायु के आने–जाने का मार्ग होने के कारण यह वायु का भाग है, परन्तु आकाश तत्व के साथ मिलने के कारण यह आकाश का तत्व कहा जाता है।

आकाश के तत्व

शिराकाश–यह आकाश का मुख्य आधा भाग है, क्योंकि

मस्तक में जो पोल है, वह आकाश रूप है। शेष जो आधा भाग रहा, उसके निम्नलिखित चार भाग हुए–

१–रोम, २–लार, ३–निद्रा, ४–प्रसरण। यह चारों भाग पृथ्वी आदि चारों भूतों में मिल कर उसी के तत्व कहलाये। उन्हें इस प्रकार समझना चाहिये––

१–रोम–इनके काटनें से दुःख नहीं होता, अतः यह आकाश का भाग है, परन्तु पृथ्वी तत्व के साथ मिलने के कारण इसे पृथ्वी का तत्व कहा जाता है।

२–लार–यह सिराकाश में से नीचे आती है, अतः आकाश का भाग है, परन्तु जल तत्व के साथ मिलने के कारण जल का तत्व कही जाती है।

३–निद्रा–यह शून्य स्वभाव वाली है, अतः आकाश का भाग है, परन्तु तेज तत्व के साथ मिलनें के कारण तेज का तत्व कही जाती है।

४–प्रसरण–इसमें व्यापकता है, अतः यह आकाश का भाग है, परन्तु वायु तत्व के साथ मिलने के कारण वायु का तत्व कहा जाता है।

इति कोष्ठक का स्पष्टीकरण

हे शिष्य ! इस प्रकार स्थूल देह के पच्चीस तत्त्वों में पंचीकरण का निरूपण हमने किया। यह गौणपक्ष से समझने के लिए है। पंचीकृत पंचमहाभूतों के पच्चीस तत्त्वों से जो स्थूल शरीर बना है, वह मुख्य पक्ष है। उन तत्त्वों को पहिले कोष्ठक में निरूपण किए अनुसार समझना चाहिये। केवल आकाश के तत्त्वों मे दो पक्ष हैं। उनमें से पहिले पक्ष में काम, क्रोध आदि पांच तत्त्वों को कहा

गया है तथा दूसरे पक्ष में शिराकाश, कण्ठाकाश, हृदयाकाश, उदराकाश तथा कट्याकाश को बताया गया है। इन सबके निरू. पण करने का मुख्य अभिप्राय यह है कि ये सम्पूर्ण तत्त्व भौतिक (पंचभूतां केकार्य) अर्थात् परिणामों, विकारी तथा असत्य हैं एवं इनका जानने वाला दृष्टा, निर्विकार तथा असंग आत्मा है। इन तत्त्वों का समुदाय रूप स्थूल देह तू नहीं है। ये तत्त्व पंच भूतों के हैं। अतः तेरे नहीं हैं। सो तू इनमें से अहंता–ममता को त्याग दे। तू अपने मस्तक पर मिथ्या कल्पित दुःख को क्यों उठाता है ? तू स्वयं विचार करके देख कि उन तत्त्वों में से तू कौन है ? तथा उनके साथ तेरा क्या सम्बन्ध है, जो तू उन्हें अपना मानता है ? इस विषय में जब तू विचार करके देखेगा, तब तुझे यह पता चलेगा कि कोई एक तत्त्व अथवा अनेक तत्त्वों से निर्मित यह देह तू स्वयं नहीं है तथा यह देह पंचभूतों की है, तेरी नहीं है। इस प्रकार विचार करने पर देह के प्रति अहंता–ममता नष्ट होजाती है। 'देह' एक नाम है। यह उपरोक्त पच्चीसों तत्त्वों के एकत्र मिलने पर प्राप्त होती है। सब अलग–अलग तत्त्व जब एकत्र हो जाते हैं, तब उनका नाम 'देह' पड़ता है। जिस प्रकार पत्थर, ईंट, लकड़ी, चूना आदि के समुदाय से 'घर' बनता है, परन्तु वे वस्तुयें अलग–अलग रहने पर घर नहीं कहलातीं, उसी प्रकार देह के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। इस प्रकार वास्तविक रूप से विचार करने पर यह सिद्ध नहीं होता कि देह सत्य है। वह वल कल्पना मात्र ही सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में हम तुझसे एक दृष्टान्त कहते हैं, उससे तू भली प्रकार विचार कर सकेगा।

पंचभूतों के तत्वों को अलग-अलग समझ लेने पर देह सिद्ध नहीं होती-इस सम्बन्ध में गाड़ी का दृष्टान्त

एक बार 'विवेकी' तथा 'अववेकी' नाम के दो गृहस्थ मार्ग में बातचीत करते हुए चले जा रहे थे। उस समय अविवेकी ने विवेकी से कहा "हे भाई, विवेक ! तुम बहुत देर से चलते रहने के कारण थक गये होगे, अतः वह जो गाड़ी आ रही है, उसमें बैठ जाओ।"

विवेकी ने उत्तर दिया-"हे भाई ! गाड़ी किधर से आ रही है ? मुझे तो कहीं दिखई नहीं देती।"

अविवेक ने कहा-"गाड़ी आती हुई प्रयत्क्ष दिखाई दे रही है, परन्तु तुम्हें क्यों नहीं दीखाती ? इसका कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

विवेकी ने उत्तर दया-"यदि गाड़ी आती हुई सिद्ध न हो तो तुम्हें क्या दण्ड मिलना चाहिए ?"

इस प्रकार जब दोनों में बातचीत हो रही थी, तभी गाड़ी उनके समीप आ पहुँची। उसे देख कर अविवेकी ने कहा-"देखो गाड़ी यह रही। अब यदि तुम्हारी इच्छा इसमें बैठने की हो तो हम भाड़ा निश्चित करें?"

विवेकी बोला-"अरे भाई ! तुम अपने मुँह से बराबर गाड़ी-गाड़ी कहे चले जा रहे हो। जरा हाथ रख कर भी तो बताओ कि गाड़ी यह है।"

यह सुन कर अविवेको ने धुरी पर हाथ रखते हुए कहा- "देखो, गाड़ी यह रही।"

विवेकी ने उत्तर दिया-"यह तो धुरी है, गाड़ी कहाँ है ?"

इस प्रकार अविवेकी ने गाड़ी के प्रत्येक भाग पर हाथ रक्खा, परन्तु विवेकी ने उस भाग का नाम बता कर, उसे गाड़ी सिद्ध नहीं होने दिया। अस्तु, जब अविवेकी ने अपने को पराजित स्वीकार कर लिया, तब उसने विवेकी से कहा—"मैं हार गया, अतः अब तुम मेरे मुंह पर तमाचा मार दो।"

उस समय विवेको ने उत्तर दिया—"हे भाई तुम अपना मुंह बताओ तो मैं उस पर तमाचा मारूँ।"

विवेकी की बात सुनकर जब अविवेकी ने अपने गाल पर हाथ रक्खा, तब विवेकी ने यह कहा कि यह तो तुम्हारा गाल है, मुंह नहीं है; अतः मुझे मुंह बताओ। अस्तु, जब अविवेकी ने मुंह के अन्य अवयवों नाक, कान, आँख आदि पर हाथ रक्खा तो विवेकी उन अवयवों के नाम कह कर उन्हें मुख से विपरीत सिद्ध करता गया। और अन्त में मुख कहीं भी सिद्ध न हो सका।

"हे शिष्य! इस प्रकार संसारी पदार्थों के जितने नामहैं, यदि उन सब के सच्चे स्वरूप को ढूँढ़ा जाय तो कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा। केवल व्यवहार सिद्ध करने के लिए ही नामों की कल्पना की गई है। इस न्याय के अनुसार यह देह भी कल्पना मात्र है। अतः इससे अहंता--ममता न रख कर उसे त्याग देना ही मोक्ष है। इस स्थूल देह को अन्नमय कोष का नाम दिया गया है। उसी का वर्णन हमने किया है। उस अन्नमय कोष से आत्मा प्रथक् है, ऐसा जानना चाहिए।"

शिष्य--"हे गुरु! अब आप कृपा करके यह बताइये कि स्थूल देह को अन्नमय कोष क्यों कहते हैं?"

गुरु--"जीव के माता--पिता द्वारा खाये हुए अन्न के परिणाम से शरीर में रक्त तथा वीर्य उत्पन्न होता है। उसी रक्त तथा वीर्य के संयोग से स्थूल देह की उत्पत्ति होती है। जीव के जन्म लेने के पश्चात् उसको माता द्वारा खाये हुए अन्न के परिणाम स्वरूप उसके स्तनों में दूध उत्पन्न होता है। उस दूध को पीने से जीव को स्थूल देह बढ़ती है। तदनन्तर दाँत निकलने पर जीव द्वारा जो अन्न खाया जाता है उसके द्वारा देह बढ़ती है। इस प्रकार प्रत्यक्षत: यह स्थूल देह अन्य जीवों का अन्न रूप भक्ष्य है। अन्न खाये बिना यह देह नहीं रह सकती। जब इस देह को मृत्यु होती है, तब भी यह अन्न रूप पृथ्वी में लय होती है। इन सब कारणों से ही स्थूल देह को अन्नमय कहा जाता है।

इसे कोष कहने का कारण यह है कि जिस प्रकार म्यान (कोष) तलवार को ढंकती है तथा धन को ढंकने वाले भण्डार को कोष की संज्ञा दी जाती है, उसी न्याय के अनुसार इस अन्न-मय शरीर के द्वारा आत्मा को ढांका जाता है, सो इस शरीर को अन्नमय कौष कहा जाता है।

अस्तु, यह अन्नमय कोश दृश्य है, परन्तु तेरा आत्मा इस कोष का दृष्टा है। इसलिए तू इस अन्नमय कोश से प्रथक् है। इस भांति मुमुक्षुओं को सद्गुरु के कथनानुसार यह समझ कर कि "मैं अन्नमय कोष से भिन्न हूँ" अपने मन में पक्का निश्चय कर लेना चाहिए॥

इस भांति स्थूल देह का वर्णन करने के उपरान्त हम उसका अवस्था आदि के सम्बन्ध में कहते हैं, उसे सावधान होकर सुन।

चौपाई

जाग्रत अवस्था नेत्र स्थान। वैखरी वाचा स्थूल भोग जान।
क्रिया शक्ति रजोगुण मान। आकार मात्रा विश्व अभिमान।।७।।

टीका—जगने का नाम जागृत अवस्था है। इसका स्थान नेत्र में है। इन्द्रियों द्वारा शब्दादि विषयों का जिस अवस्था में ज्ञान होता है, उसे जागृत अवस्था कहा जाता है। यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है।

स्थूल देह की जागृत अवस्था आदि जो आठ तत्त्व हैं, उनमें से प्रत्येक का नाम तथा वर्णन आगे दिए हुए कोष्टक के अनुसार समझना चाहिए –
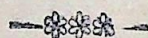
जागृत अवस्था के आठ तत्त्वों का कोष्ठक

(ज्ञानेन्द्रियों की त्रिपुटी)

(आध्यात्मिक) पाँच ज्ञानेन्द्रियों क नाम	(आधिभौतिक) उनके विषयों के नाम	(आधि दैविक) उनके देवताओ के नाम
श्रोत्र	शब्द	दिशा
त्वचा	स्पर्श	वायु
चक्षु	रूप	सूर्य
जिह्वा	रस	वरुण
घ्राण	गन्ध	अश्विनी कुमार
पाँच कर्मेन्द्रियों के नाम	**उनके विषयों के नाम**	**उनके देवताओं के नाम**
वाक्	वचन	अग्नि
पाणि	आदान (लेन-देन)	इन्द्र
पाद	गमन	उपेन्द्र
शिश्न	आनन्द	प्रजापति
गुदा	विसर्ग	मृत्यु
चार अन्त:करण के नाम	**उनके विषयों के नाम**	**उनके देवताओं के नाम**
मन	संकल्प	चन्द्रमा
बुद्धि	निश्चय	ब्रह्मा
चित्त	चिन्तन	नारायण
अहङ्कार	अभिमान	रुद्र

कोष्ठक का अर्थ

१–जागृत अवस्था––जिस अवस्था में जीव जगता है तथा उसकी इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं चार अन्तःकरण द्वारा जिस अवस्था में उसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, उस अवस्था को जागृत अवस्था कहा जाता है। शास्त्रों में इस बात को स्पष्ट रूप से कहा है। जीव को इस जागृत अवस्था में ब्यालीस तत्त्व होते हैं। इन ब्यालीस तत्वों के नाम उपर्युक्त कोष्ठक में दिये गये अनुसार समझने चाहिए।

यदि इन ब्यालीस तत्वों में से एक भी तत्व कम होता है, तो जागृत अवस्था में उतना ही कार्य कम रह जाता है। जगने से लेकर शयन पर्य्यन्त जितने भी व्यवहार होते हैं, उन सबको जागृत अवस्था की क्रिया कहा जाता है। हे शिष्य ! तू उन सब व्यवहारों को जानने वाला है, अतः तू उनका साक्षी है अर्थात् उन सबसे भिन्न है।

२–नेत्र स्थान–––जागृत अवस्था का स्थान नेत्र है, क्योंकि विशेष कर जागृत अवस्था के व्यवहार नेत्रों द्वारा ही होते हैं।

३–बैखरी वाचा––जागृतावस्था का वाचा बैखरी है। १–कण्ठ, २–तालु, ३–जिह्वा मूल, ४–दांत, ५–ओष्ठ, ६–नासिका, ७–हृदय तथा ८–मस्तक। इन आठ स्थानों के योग द्वारा मनुष्य जो कुछ बोलते हैं, उसे 'बैखरी वाचा' कहा जाता है।

४–स्थूल भोग–जागृतावस्था में जो सुख-दुखादि भोग प्रत्यक्ष होते हैं, उन्हें 'स्थूल भोग' कहा जाता है।

५–क्रिया शक्ति—जागृतावस्था में शरीर द्वारा क्रिया रूप व्यवहार जिस शक्ति द्वारा होते हैं,उन्हें 'क्रियाशक्ति' कहा जाता है।

६–रजोगुण—जागृतावस्था में अभिमान के योग द्वारा राग-द्वेषादि राजसी क्रियाएें जिस गुण के योग से होती हैं,उसे 'रजोगुण' कहा जाता है।

७–अकार मात्रा–अक्षरों की मात्रा को 'अकार मात्रा' कहा जाता है, वह इसी अवस्था में विद्यमान है।

८–विश्वाभिमान—जागृत अवस्था में, बुद्धि में आत्मा का जो आभास होता है (अर्थात् "मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" आदि जीव का जो अभिमान होता है),उसे 'विश्वाभिमान' कहा जाता है।

हे शिष्य ! तू इन सब तत्वों को जानने वाला है, अतः तू यह तत्व स्वयं नहीं है। यह सब जागृत अवस्था के तत्व हैं अर्थात् तेरे नहीं हैं। तू इनका दृष्टा तथा साक्षी है।"

चौपाई

उपलां पच्चीशने आ अष्ट। एवा तत्व तेत्रीश स्पष्ट॥
ए दृश्य हुँ दृष्टा जान। ए तुं केम थाईश वेद पुराण॥८॥

टीका—पहिले स्थूल देह के काम, क्रोध आदि पच्चीस तत्व तथा जगृतावस्थादि के कहे हुए आठ तत्व—इनको मिलाकर कुल तेतीस तत्व स्पष्टतः समझने चाहिए। इन सब तत्वों को तू जानता है, अतः ये सब तेरे दृश्य हैं तथा तू इन सबको जानने वाला दृष्टा है। तू स्वयं यह तत्व नहीं है अर्थात् तू इनसे भिन्न है। इस विषय में वेदान्त प्रणाम है। श्री शङ्कराचार्यजी ने अपने 'वाक्यवृत्ति' नामक ग्रन्थ में कहा है कि "देह से आत्मा भिन्न है।" वह इस प्रकार है—

श्लोक–घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा ।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यव धारयेत् ॥ १ ॥

अर्थ–जिस प्रकार घट का दृष्टा घटसे भिन्न है तथा वह किसी भी प्रकार घट नहीं हो सकता, उसी प्रकार देह का दृष्टा जो अपना आत्मा है, वह कभी भी देह रूप नहीं हो सकता। मनुष्यों को ऐसा निश्चय करके समझना चाहिए।

हे शिष्य ! जिस प्रकार घट पंचभूतों से उत्पन्न हुआ है और वह जड़ तथा दृश्य है, उसो प्रकार यह तेरी देह भी पंचभूतों से निर्मित है, अतः यह भी जड़ तथा दृश्य है। इस प्रकार यह भी घट के समान है और तू इसका चैतन्य दृष्टा है।"

शिष्य—"हे गुरुदेव ! घट जैसा बनता है, वैसा ही रहता है अर्थात् बढ़ता नहीं, इसलिए उसे जड़ कहना ठीक है; परन्तु देह प्रतिदिन बढ़ती है, अतः वह चैतन्य दिखाई देती है। फिर इस देह को आप घट के समान किस प्रकार कहते हैं ?"

गुरु—"हे शिष्य ! देह बढ़ती है; केवल इसी बात से 'यह चैतन्य है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार दोवाल को प्रतिदिन इंट चढ़ा कर बढ़ाया जाय तो वह बढ़ती है अथवा घूरे पर नित्य कूड़ा डाला जाय तो वह बढ़ता है, तो भी भीत अथवा घूरे को चैतन्य नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह देह भी प्रति-दिन अन्न, पानी, शाक, मिठाई आदि के डालने के कारण बढ़ती है। अतः इसे केवल बढ़ने के ही कारण चैतन्य नहीं कहा जा सकता है। जिस प्रकार तपे हुए लोहे में अग्नि के संयोग द्वारा जलाने की शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार चैतन्य आत्मा के संयोग के कारण यह देह भी चैतन्य प्रतीत होती है। परन्तु अनुभव द्वारा यह बात

जानी जा सकती है कि यह स्वतः सिद्ध चैतन्य नहीं है। अस्तु, इस रीति से यह देह जड़ है। तू इसका दृष्टा अर्थात् इससे भिन्न, चित्स्वरूप, अजर, अमर आत्मा है।'

शिष्य—"हे महाराज ! मैंने जन्म लिया और मैं एक दिन मृत्यु को भी अवश्य प्राप्त होऊँगा। अतः जब ऐसी बात है, तब आप मुझे अजर.अमर क्यों कहते हैं, यह बताने की कृपा करें ?"

गुरु—"हे शिष्य ! 'यास्क' नामक आचार्य ने 'देह में जन्म आदि छैः विकार हैं परन्तु वे आत्मा तो नहीं होते" ऐसा कहा है। वे छैः विकार निम्नलिखित हैं—

दोहा–जायते अस्ति वर्द्धते, विपरिणमते जोय।
अपक्षीय ते विनश्यति, षड्विकार कहि सोय॥

टीका—(यह देह) जायते (जन्मता है) अस्ति (जन्म के पश्चात् है), वर्द्धते (जन्म लेने के पश्चात् बढ़ता है), विपरिणमते (तरुण होता है), अपक्षीयते (वृद्ध होता है) तथा विनश्यति (मरता है) ये देह के छैः विकार हैं।

दोहा–ए षट्विकार देहने कह्या, तू पाते निर्विकार।
गुरुवाक्ये विश्वास करि, अनुभव मनमांधार॥

टीका—उपर्युक्त जन्म, मरणादि छैः विकार स्थूल देह के होते हैं, परन्तु तू स्थूल देह नहीं है; तू तो स्वयं निर्विकार आत्मा है देह विकारी है, परन्तु आत्मा विकारी नहीं हो सकती।

जिस प्रकार मिट्टी से घट बनता है तथा उस घट में जो आकाश (पोला भाग) रहता है, वह घटाकाश कहलाता है। यद्यपि वह आकाश कोई नया नहीं जन्मा है। क्योंकि वह तो घट के पहिले भी था और बाद में भी रहेगा, जबकि घट को उसे बन जाने

के पश्चात् ही 'यह घट है' ऐसा जाना जाता है। पहिले तो घट को बनाया जाता है, फिर उसे पीट कर बढ़ाया जाता है। जब वह पक जाता है, तब पूरा होकर परिणाम अवस्था में आता है। जब उसमें ठोकर लग जाती है अथवा छेद हो जाता है, तब वह वृद्धत्व को प्राप्त होकर फूट जाता (नष्ट होजाता) है अस्तु, घट तो अनेक विकारों को प्राप्त होकर नाश को प्राप्त होजाता है, परन्तु उसके भीतर के आकाश को कुछ भी विकार नहीं आता क्योंकि वह (आकाश) निरवयव, असङ्ग तथा निर्लेप होता है। उसी प्रकार घट के अनुसार ही यह देह भी जन्म लेता है। जन्म लेने के पश्चात् बढ़ता है, तरुण होता है, वृद्ध होता है तथा अन्त में मर जाता है, परन्तु तू आत्मा इन विकारों से निर्विकार, निरवयव एवं असङ्ग बना रहता है। आत्मा जन्म मरण आदि छै: विकारों से रहित है, इस सम्बन्ध में श्रीभगवद्गीता के दूसरे अध्याय में यह निरूपण किया गया है—

श्लोक—न जायते म्रियतेवा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

गीता अध्याय २, श्लोक २०

अर्थ—यह अपरोक्ष रूप आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता है। यह जन्म लेने के पश्चात् अस्तित्व रूप आदि अनेकों प्रकार के विकारों को भी प्राप्त नहीं होता। यह अज (अजन्मा) है, नित्य (विपरिणाम रूप चोथे विकार से रहित एक रूप) है; तथा पुराण (वृद्धि लक्षण रूप तीसरे विकार से रहित अनादि सिद्ध है) है। शस्त्र आदि द्वारा शरीर का तो नाश हो सकता है, परन्तु आत्मा का नाश नहीं हो सकता।

अतः हे शिष्य ! तू सद्गुरु के वचनों पर विश्वास रखकर

यह अनुभव कर कि 'मैं स्वत' निर्विकार शुद्ध आत्मा हूँ। मन में ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर तू बन्धन से छूट जायेगा।

सूक्ष्म देह का वर्णन

इस प्रकार सद्गुरु ने जब शिष्य को यह बोध कराया कि स्थूल शरीर से आत्मा भिन्न है तथा देह से अहंता.ममता रूप अध्यास को छुड़ाया, तब शिष्य अपने मनमें यह शङ्का करने लगा कि यदि मैं स्थूल देहसे भिन्न हूँ तो सूक्ष्म देह होऊँगा। इस भ्रांति में पड़कर वह गुरु से कहने लगा—

दोहा—स्थूल देह ते हुँ नहीं, सूक्ष्म देह हुँ जाण।
सद्गुरु कहे ते तुं नहीं, लिंग दृश्य वखाण ॥११॥

टीका—शिष्य ने कहा—"हे गुरु! आपके उपदेश के अनुसार मैंने यह पूर्ण विश्वास कर लिया है कि मैं स्थूल नहीं हूँ, परन्तु अब मुझ ऐसा जान पड़ता है कि मैं सूक्ष्म देह हूँ।"

यह सुन कर गुरु बोले—"हे शिष्य! तू सूक्ष्म देह भी नहीं है। लिंगदेह अर्थात् सूक्ष्म देह भी तेरा दृश्य है तथा तू उसका दृष्टा है अर्थात् वह तू नहीं है।"

सद्गुरु ने 'लिंगदेह दृश्य है' ऐसा संक्षेप में कह कर जब शिष्य को लिंगदेह से अध्यास छोड़ देने का उपदेश किया परन्तु विस्तार-पूर्वक लिंगदेह के विशेष तत्त्वों का वर्णन नहीं किया, तब शिष्य लिंगदेह को ही आत्मा मानकर इस प्रकार प्रश्न करता है—

॥ चौपाई ॥

स्वामी स्थूल देह हुँ नहीं, पछी सूक्ष्म देह तेहुँ सही।
गुरु कहे ते तुं केम थाईश भाई, प्रथमनी पेठे विचारो जाई ॥

टीका——शिष्य ने कहा——"हे गुरुदेव ! स्थूल-देह मैं नहीं हूँ, ऐसा मुझे विश्वास हो गया है, क्योंकि स्थूल देह पंचभूतों के पच्चीस तत्वों का समुदाय रूप है। यह अत्यन्त मलिन तथा वीर्य-रक्त द्वारा उत्पन्न हुई है। हाड़, मांस, रक्त, मल, मूत्र, कफ आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थ इसमें भरे हुए हैं तथा इसके नवों द्वारों से अत्यन्त दुर्गन्धित मल, मूत्र, कफ आदि पदार्थ नित्य निकलते रहते हैं। मेवा मिठाई, अन्न आदि अति उत्तम पदार्थ भी इस स्थूल देह में पहुँच कर शीघ्र ही बिगड़ जाते हैं तथा मल रूप हो जाते हैं। इसी प्रकार बेशकीमती स्वच्छ वस्त्र भी इस देह के संग के कारण मैले तथा दुर्गन्धित हो जाते हैं। अतः प्रत्येक प्रकार से अपवित्र यह स्थूल देह मैं कैसे हो सकता हूँ ? सच है, यह स्थूल देह दृश्य है तथा मैं इसका दृष्टा हूँ। मैं स्वयं स्थूल देह नहीं हूँ। और यह स्थूल देह दृश्य होने के कारण मेरी नहीं है। अस्तु, इस देह के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र–ये चार वर्ण एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ तथा सन्यास——ये चार आश्रम भी मेरे नहीं हैं। इसी प्रकार स्थूलता, कृशता, श्यामता, गौरता, बाल्यावस्था, तारुण्य, वार्धक्य आदि स्थूल देह के धर्म भी मुझ में नहीं हैं। इस बात को मैं अनुभव से जान चुका हूँ, परन्तु स्थूल देह के भीतर जो सूक्ष्म देह है, वह तो मैं ही हूँ; क्योंकि मैं यह समझता हूँ कि स्थूल देह में जाना, आना, चलना, फिरना, सुनना आदि जो व्यवहार होता है, वह सब सूक्ष्म देह के आधार से ही होता है। चूंकि स्थूल देह में देखने की क्रिया चक्षु इन्द्रियों से, सुनने की कर्णेन्द्रियों से तथा बोलने की वागेन्द्रियों से होती है, अस्तु इन सब व्यवहारों में स्थूल देह को सूक्ष्म देह का ही आधार

होता है। उसी प्राण वाले सूक्ष्म देह से ही स्थूल देह जीवित रहता है, क्योंकि प्राण निकलते ही स्थूल देह की मृत्यु हो जाती है। अतः स्थूल देह में सूक्ष्म देह की ही प्रधानता है। और भी देखिए, जब तक स्थूल देह में सूक्ष्म शरीर है, तभी तक स्थूल देह से, माता, पिता, पुत्र, भाई आदि के सम्पूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। जब स्थूल देह से सूक्ष्म देह निकल जाता है, तब सब सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं और इस स्थूल देह को वे ही सम्बन्धी जला कर भस्म कर देते हैं। इन अनेक कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि मैं सूक्ष्म देह हूँ। इसके अतिरिक्त–मैं बोलता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं चलता हूँ तथा मैं भूखा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ आदि अहंप्रत्यय भी सूक्ष्म देह में ही प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अतः मेरा सूक्ष्म देह होना सिद्ध हो जाता है।"

गुरु–"हे शिष्य ! तू सूक्ष्म देह भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह (सूक्ष्म देह) भी तो भौतिक, जड़ तथा दृश्य है। तू उनका दृष्टा है, अतः तू वह भी नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म देह भी पंचमहाभूतों की है, अतः वह तेरी नहीं हो सकती। तू उसका साक्षी है। इसका अनुभव करने के लिए जिस प्रकार तूने पहिले स्थूल देह का विचार करके आत्मा को स्थूल देह से भिन्न समझा है, उसी प्रकार सूक्ष्म देह का विचार करके भी देख तथा उसे अपने से भिन्न जान कर स्वयं को उसका दृष्टा आत्मा समझ।"

शिष्य–"हे गुरु महाराज ! सूक्ष्म देह के तत्त्व कितने हैं तथा किन-किन भूतों द्वारा किन-किन तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है, इन सबका निरूपण करके आप मुझे विस्तारपूर्वक समझाइए ?"

गुरु-"हे शिष्य ! सूक्ष्म देह के १-अन्तःकरण पंचक, २-प्राण पंचक, ३-ज्ञानेन्द्रिय पंचक, ४-कर्मेन्द्रिय पंचक तथा ५-विषय पंचक-ये पाँच पंचक हैं। प्रत्येक पंचक में पाँच-पाँच तत्त्व हैं। इस प्रकार इन पाँचों पंचकों में कुल मिलाकर पच्चीस तत्त्व हैं। वे सब तत्त्व, आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पंचमहाभूतों द्वारा क्रम से उत्पन्न हुए हैं। उनके विभागों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाँ करने तथा उनका विस्तारपूर्वक निरूपण करने के हेतु आगे एक कोष्टक दे रहे हैं-

सूक्ष्म देह के विचार का कोष्ठक

पूर्व

उत्तर

पंच महाभूत	आकाश के अन्त:करण पंचक (कर्ता भोक्ता)	वायु के प्राण पंचक (वाहन)	तेज के ज्ञानेन्द्रिय पंचक (द्वारा)	जल के कर्मेन्द्रिय पंचक (सेवक)	पृथ्वी के विषय पंचक (भोग)
आकाश	अन्त:करण प्रथम स्फुरण विष्णु देवता	व्यान, सर्वांग में रहता है कर्म-समस्त देह की सन्धियों को मोड़ता है	श्रोत्र देवता दिशा । इसके द्वारा शब्द सुन पड़ता है इसके बिना जीव बहरा होता है	वाचा, देवता अग्नि । इसके द्वारा जीव शब्द बोलता है । यह न हो तो गूँगा रहे ।	शब्द
वायु	मन: संकल्प विकल्पात्मक, देवता चन्द्रमा । इसीके द्वारा जीव संकल्प करता है ।	समान: नाभिस्थान में रहता है इसका काम नाड़ी द्वारा अन्न के रसों को रोमरोम में प्रवेश कराना है ।	त्वचा ; देवता वायु इसके द्वारा स्पर्श होता है अर्थात् शीत, ऊष्ण, मृदु, कठिनता आदिकों जाना जाता है ।	पाणि (हाथ) ; देवता इन्द्र । इसके द्वारा पदार्थ का लेना देना होता है यह न हो तो लूला होता है ।	स्पर्श

दक्षिण

पश्चिम

पूर्व

तेज	बुद्धि निश्चयात्मक, देवता ब्रह्मा । इसके द्वारा निश्चय होता है ।	उदान; कंठस्थान में रहता है । इसका काम अन्नरस का विभाग करना और हितानाडी में स्वप्न दिखाना है ।	चक्षुः देवता; सूर्य्य । इसके द्वारा दिखाई पड़ता है । यह न हो तो अन्धा हो ।	पाद; देवता उपेन्द्र । इसी के द्वारा गमनागमन क्रिया होती है यह न हो तो पंगु हो ।	रूप
जल	चित्त चिन्तात्मक, देवता नारायण । इसीके द्वारा स्मरण होता है ।	प्राण, हृदयस्थान में रहता है इसका कर्म इक्कीस सहस्र छः सौ श्वासोच्छ्वास करना है ।	जिह्वा, देवता वरुण इस के द्वारा रसास्वादन जाना जाता है । यदि वह न हो तो रस का ज्ञान ही न हो ।	शिश्न, देवता प्रजापति । इसी के द्वारा मूत्र त्याग रति भोग होता है इसके बिना नपुंसकता आती है ।	रस
पृथ्वी	अहङ्कार अहंपना, देवता रुद्र इसी के द्वारा अहंकार होता है ।	अपान; गुदास्थान में रहकर मलका उत्सर्जन करता है ।	घ्राण, देवता अश्विनीकुमार । इसीके द्वारा सुगन्ध' दुर्गन्ध का ज्ञान होता है यह न हो तो गंध कुछ भी न मालूम हो	गुद, देवता मृत्यु (यम) इसके द्वारा जीव मल का त्याग करता है ।	गंध

पश्चिम

उत्तर

दक्षिण

सूक्ष्म देह के कोष्ठक का स्पष्टीकरण

इस कोष्ठक की पहली, दूसरी तथा तीसरी प्रक्रिया में पूर्व से पच्छिम की ओर क्रम से बाँच कर तत्त्वों का विचार समझना चाहिये तथा चौथी, पाँचवीं, छठवीं एवं सातवीं प्रक्रिया में उत्तर से दक्खिन की ओर बाँच कर तत्वों का विचार करना चाहिये।

पहली प्रक्रिया

आकाश के अन्तःकरण पंचक=१–अन्तः करण, २–मन ३–बुद्धि, ४–चित्त तथा ५–अहंकार हैं।

वायु के प्राण पंचक=१–व्यान, २–समान, ३–उदान, ४–प्राण तथा ५–अपान हैं।

तेज के ज्ञानेन्द्रिय पंचक=१–श्रोत्र, २–त्वचा ३–चक्षु, ४–जिव्हा तथा ५–घ्राण हैं।

जल के कर्मेन्द्रिय पंचक=१–बाचा, २–पाणि, ३—पाद, ४—शिश्न तथा ५—गुदा हैं।

पृथ्वी के विषय पँचक=१—शब्द, २—स्पर्श, ३—रूप, ४—रस तथा ५—गंध हैं।

हे शिष्य ! तू इन सब तत्वों को जानता है' अतः यह तत्व तू नहीं है। तू इससे पृथक है। यह सब तत्त्व पंच भूतों के हैं, इसलिये तेरे नहीं हैं। तू इन सब तत्त्वों का द्रष्टा है।

दूसरी प्रक्रिया

शिष्य–"हे गुरु ! आपने जो इन पच्चीस तत्वों के नाम कहे, उन्हें मैंने समझ लिया है, परन्तु इनके स्वरूप को यथार्थ रूप

से जानने के लिये आप इन तत्वों का रूप तथा इनकी क्रिया आदि काव्रर्णन स्पष्ट रूप से कीजियें।''

अन्तः करण पंचक का व्याख्यान

गुरु=''हे शिष्य ! सुनो, अब मैं सब का अलग-अलग स्पष्टोकरण करता हूँ

अन्त:करण=इससे आशय है शरीर के अन्दर ज्ञान सुख आदि के साधन रूप करण (इन्द्रिय) से उसका स्वरूप प्रथम स्फुरण है अर्थात् कोई काम करने के लिये जो सबसे पहले स्फूर्ति होती है। अन्त:करण का देवता विष्णु है, मन=उपर्युक्त अन्त:करण के स्फुरन कार्य को करने न करने का विचार जिस इन्द्रिय से होता है, उसे 'मन' कहते हैं। मनका देवता चन्द्रमा है। उसके द्वारा संकल्प विकल्प होता है। उसी से स्फुरण होता है।

बुद्धि=मन के संकल्प विकल्प के ऊपर एक निश्चय करने वाली इंद्रिय को 'बुद्धि' कहा जाता है। इस बुद्धि का देवता ब्रह्मा है। उसी के द्वारा निश्चय होता है।

चित्त=निश्चय किये हुये कार्य के विषय में इस प्रकार का चिन्तन करना कि यह काम किस प्रकार किया जावे, जिससे अच्छा हो, ऐसे चिन्तन करने वाले को 'चित्त' कहते हैं। चित्त का देवता नारायण है। उसी के योग से स्मरण होता है।

अहंकार='यह कार्य मैं करूंगा' इस प्रकार के अभिमान को 'अहंकार' कहते हैं इसका देवता रुद्र है। उसी के योग से अहंकार अर्थात् अभिमान उत्पन्न होता है।

अन्त:करण यथार्थ में स्वरूप से एक ही है, परन्तु उसमें स्फु-

रण, संकल्प, विकल्प, निश्चय, चिन्तन तथा अभिमान नामक उसकी पाँच वृत्तियों के होने से उसके मन आदि पाँच अलग अलग नाम हुए हैं। जिस प्रकार कोई ब्राह्मण है तो वह स्वरूप से तो एक ही है, परन्तु रसोई करने के कारण रसोईया, पढ़ाने के कारण शिक्षक, ज्योतिष जानने के कारण ज्योतिषी तथा नाड़ी देखने के कारण वैद्य कहलाता है, इसी प्रकार एक ही अन्त:करण वृत्ति भेद से मन, बुद्धि आदि अनेक भिन्न-भिन्न नामों को प्राप्त होता है।

हे शिष्य ! तू इन सब अन्त:करण, मन आदि का साक्षी है। तू इनसे भिन्न है तथा इनका दृष्टा है, इसलिये तू अन्त:करण आदि नहीं है, इसे विचार करके देख।

प्राण पंचक का व्याख्यान

व्यान=इस नाम की वायु शरीर के सब भागों में रह कर शरीर की सब सन्धियों को मोड़ने का कार्य करती है।

समान=इस नाम का वायु नाभिस्थान में रहता है। यह मनुष्य के खाये पिये अन्न आदि को जठराग्नि में पकाता है। उस पके हुए अन्न के स्थूल सूक्ष्म तथा मध्यम यह तीन भाग होते हैं। उस अन्न का जो अति सूक्ष्म भाग होता है, वह शरीर से हृदय स्थान में आकर मन तथा बुद्धि को पुष्ट करता है। जल का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह प्राण को पुष्ट करता है। जल तथा अन्न के बचे हुए अन्य भाग मल तथा मूत्र आदि होते हैं। वे गुदा, लिंग एवं रोम कूपों के द्वार से बाहर निकल जाते हैं। अन्न तथा जल का जो मध्यम रसरूप भाग रह जाता है, वह समान वायु नाड़ियों द्वारा शरीर के प्रत्येक स्थान में पहुँचाता है। उस मध्यम रस के परिणाम से रक्त, मांस आदि का निर्माण होता है, जिससे शरीर

पुष्ट होता है। यदि शरीर में प्रत्येक स्थान पर अन्न, जल का रस रूप भाग न पहुँचे तो कोई भी अवयव पुष्ट नहीं होता। जिस प्रकार बाग का माली कुये से पानी निकाल-निकाल कर बाग की सब क्यारियों को सींचता है, जिससे कि वृक्ष आदि हरे भरे होकर फलते, फूलते तथा बढ़ते हैं, उसी प्रकार इस शरीर रूपी बाग में समान वायु रूपी माली अवयव तथा रोम रूपी वृक्ष आदि को अन्न के रस रूपी जल द्वारा नाड़ी रूपी नालियों से सींच कर सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है।

उदान=इस नाम का वायु कण्ठ में रहता है। मनुष्य जो भी अन्न तथा जल आदि खाता पीता है, उसके अलग विभाग करना तथा 'हिता' नामक जो एक अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ी कण्ठ में रहती है, उसमें स्वप्न तथा हिचकी उत्पन्न करना, इसका काम है।

प्राण=इस नाम का वायु हृदय स्थान में रहता है। इसका कार्य दिन तथा रात्रि में २१६०० बार श्वासोच्छवास करता है।

अपान=इस नाम का वायु गुदा स्थान में रहता है, इसका कार्य मल का विसर्जन करना है।

हे शिष्य ! इस प्रकार यह पाचों वायु भिन्न-भिन्न क्रियाओं के कर्ता हैं। तू इनका द्रष्टा तथा साक्षी है, अतः तू पंच वायु नहीं है। तू इनकी क्रियाओं का ज्ञाता है, इसलिये तू क्रिया भी नहीं है। यह पंच वायु पंचभूतों के हैं, अतः यह तेरे नहीं हैं।

ज्ञानेन्द्रिय पंचक का व्याख्यान

श्रोत्र=कान, इसका काम शब्द सुनना है। इसका देवता दिशा है। उसी के योग से शब्द सुना जाता है। यदि यह न हो तो मनुष्य बहरा हो जाय।

त्वचा = इससे शीत, ऊष्ण, कोमल एवं कठिन आदि को स्पर्श द्वारा जाना जाता है। इसका देवता वायु है।

चक्षु = इसके द्वारा मनुष्य को रूप का ज्ञान होता है। इसका देवता सूर्य है। इसके बिना मनुष्य अन्धा होता है।

जिह्वा = इसके द्वारा खट्टे, मीठे, चरपरे, कसैले आदि स्वाद का ज्ञान होता है। इसका देवता वरुण है। इसके बिना मनुष्य को किसी स्वाद का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

घ्राण = इसके द्वारा जीव को सुगन्ध तथा दुर्गन्ध का ज्ञान होता है। इसके देवता अश्विनीकुमार हैं। इसके बिना मनुष्य को किसी भी प्रकार की गंध का ज्ञान नहीं हो सकता।

"हे शिष्य ! तू इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों का दृष्टा है। तू इन्हें जानता है और इनके काम को भी ज़ानता है, अतः तू ज्ञानेन्द्रिय नहीं है। यह पंचभूतों के हैं, अतः तेरे नहीं हैं। तू इनका द्रष्टा और साक्षी है, अतः इनसे भिन्न है।

कर्मेन्द्रिय पंचक का व्याख्यान

वाचा = वाणी का काम बोलना है। इसका देवता अग्नि है। इसके बिना मनुष्य गूंगा होता है।

पाणि = हाथ का काम लेना-देना है। इसका देवता इन्द्र है। इसके बिना मनुष्य किसी पदार्थ को लेने अथवा देने की क्रिया नहीं कर सकता।

पाद = पाँव का काम आना जाना है। इसका देवता उपेन्द्र है। इसके बिना मनुष्य चलने फिरने का कार्य नहीं कर सकता।

शिश्न = इसका काम मूत्र त्याग करना तथा रति भोग करना है। इसका देवता प्रजापति है। इसके बिना मनुष्य नपुंसक होता हैं।

गुदा = इसका कार्य मल त्याग करना है। इसका देवता यम है। इसके द्वारा प्राणी मल का त्याग करता है।

हे शिष्य ! तू इन पाँचों कर्मेन्द्रियों को जानता है अतः तू इनका दृष्टा साक्षी है। यह इन्द्रियाँ पंचभूतों की हैं, अतः यह तेरी नहीं हैं। तू इनको जानने वाला और इनसे भिन्न है।

विषय पंचक का व्याख्यान

हे शिष्य ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध यह पाँच विषय हैं। आत्मा इनसे भिन्न है। आत्मा विषय रूप नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। जो मनुष्य इन पाँच विषयोंमें आसक्त होता है, वह बन्धन को प्राप्त करता है, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। इनमें से एक एक विषय में आसक्त एक एक जीव नाश को प्राप्त होता है। तब जो मनुष्य इन पाँचों विषयों में आसक्त होते हैं, उनका नाश क्यों नहीं होगा ?"

शिष्य = "हे गुरु ! किस-किस विषय में आसक्त होने पर किस-किस जीव का नाश होता है, यह आप मुझे बताने की कृपा करें।"

गुरु = "हे शिष्य ! मैं इस बात को विस्तारपूर्वक बताता हूँ, उसे सुन—

शब्द= इसके विषय में आसक्त होकर हिरण मृत्यु को प्राप्त करता है। वह इस प्रकार है कि जब बहेलिया वन में जाकर वीणा बजाता है और मधुर स्वर में गाता है, तब उसके शब्द को सुनने

में ऐसे मग्न होजाते हैं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती उस समय बहेलिया उन्हें अपने पास आया हुआ और बेसुध जानकर मार डालता है। इस प्रकार शब्द रूपी विषय में आसक्त होने वाले हिरण नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

स्पर्श= इसके विषय में आसक्ति रखने वाला हाथी नाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार है कि जिस देश में हाथियों के मूल्य-वान् दातों की प्राप्त करने के लिये लोग बन में जाकर एक बड़ा गढ़्ढा खोद कर उसके ऊपर कमजोर बांस अथवा लकड़ियों को पाट देते हैं। तदुपरान्त एक लकड़ी की हथिनी बना कर, उसके ऊपर खड़ी कर देतें हैं, जिसका रंग हाथी के समान होता है। जब उधर होकर हाथियों का झुन्ड निकलता है और उनकी दृष्टि उस नकली हथिनी के ऊपर पड़ती है, तो वे दौड़ कर उसको स्पर्श करने के लिये पास चले आते हैं और गढ़्ढे में गिर कर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उस समय दाँत लेने बाले लोग उनके दाँतों को आसानी से काट लेते हैं

रूप—इसके सेवन से पपंगों का नाश होता है, इसे सब लोग प्रतिदिन ही देखते हैं, वह इस प्रकार कि दीपक की ज्योति को देख कर पतंगें उस पर झपट कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

रस—इसके विषय से मछली का नाश होता है। वह इस प्रकार कि जब मछली मारने वाला अपनी बंशी में कोई खाने की वस्तु लग कर उसे पानी में डालता है, तब रस में आसक्त मछली खाणे के लालच से जैसे ही उस वस्तु को निगलना चाहती है, वैसे ही मछली मारने वाला बंशी को झटका देदेता है जिसके कारण बंशी के कांचे में मछली छिद जाती है। तदुपरांत मछली मारने वाले उसका नाश करदेते हैं।

गंध—इसके विषय से भ्रमर का नाश होता है। वह इस प्रकार कि जब गंध का अनुरागी भ्रमर कमल पर जाकर बैठता है, तब वह उसकी गंध में ऐसा बेसुध हो जाता है कि उसे कुछ भी सुध बुध नहीं रहती। अस्तु, सूर्यास्त होने पर जब कमल बन्द होता है, तब गंध का लोभी वह भ्रमर भी उसके भीतर बन्द हो जाता है।

यद्यपि भ्रमर में काठ को छेद कर बाहर जाने की शक्ति रहती है, परन्तु वह गंध का प्रेमी, गंध में आसक्त होने के कारण कमल की कोमल पंखड़ियों को छेद कर भी बाहर नहीं निकलता तब हाथी आकर कमल को खा जाता है और उसके साथ ही भ्रमर भी नाश को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार गंध का विषय भी दुख का हेतु है।

"हे शिष्य ! देखो, इस प्रकार जब एक-एक विषय में पड़ कर जीवों का नाश होता है, तब पांचों विषयों में आसक्ति रखने वाला मनुष्य नाश को प्राप्त क्यों न होगा ? अतः अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले मनुष्य को उचित है कि वह इन पाँचों विषयों में दोष दृष्टि करके इनका त्याग कर दे।

तीसरी प्रक्रिया

"हे शिष्य ! अन्तःकरण पंचक, ज्ञानेन्द्रिय पंचक तथा कर्मेन्द्रिय पंचक इन तीनों में से प्रत्येक में अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैव है, उसी के योग से क्रिया होती है। तू इस त्रिपुटी को जानने वाला है, अतः तू इससे भिन्न है। तू इसका साक्षी द्रष्टा है।

शिष्य–"हे महाराज ! आपने यह बताया कि अन्तःकरण आदि पंचकों में से प्रत्येक में अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैव इन

त्रिपुटी की क्रिया होती है, परन्तु मैं यह नहीं जानता कि अध्यात्म अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं, सो आप कृपा करके स्पष्ट रूप से समझावें ?"

"हे शिष्य ! अन्तःकरण त्रिपुटी को नीचे लिखे कोष्टक में दिखाया गया है अतः उसे इसी प्रकार समझना चाहिये ।

अन्तःकरण त्रिपुटी का कोष्टक

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैव
अन्तःकरण	स्फुरण	विष्णु
मन	संकल्प-विकल्प	चन्द्रमा
बुद्धि	निश्चय	ब्रह्मा
चित्त	चिन्तन	नारायण
अहंकार	अहंकार	रुद्र

अन्तःकरण=यह अध्यात्म है, स्फुरण अधिभूत है एवं विष्णु अधिदैव है । इन तीनों से अन्तःकरण की क्रिया स्फूर्ति होती है । यदि इन तीनों में से एक की भी कमी हो तो क्रिया अर्थात् स्फूर्ति नहीं होती ।

मन=अध्यात्म है, संकल्प-विकल्प अधिभूत हैं और चन्द्रमा अधिदेव है । इन तीनों के संयोग से संकल्प रूपी क्रिया होती है ।

बुद्धि=अध्यात्म है, निश्चय अधिभूत है तथा ब्रह्मा अधिदेव है । इन तीनों के संयोग से निश्चय रूपी क्रिया होती है ।

चित्त=अध्यात्म है, चिन्तन अधिभूत है तथा नारायण अधिदैव है। इन तीनों के योग से चिन्तन रूपी क्रिया होती है।

अहंकार=अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है तथा रुद्र अधिदैव है। इन तीनों के संयोग से अभिमान रूपी क्रिया होती है। हे शिष्य ! तू इन प्रत्येक त्रिपुटी को जानता है, अतः तू त्रिपुटी नहीं है। तू इनका दृष्टा एवं साक्षी है।

पाँच ज्ञानेंद्रियों की त्रिपुटी को नीचे लिखे कोष्टक में दिखाया गया है, अतः उन्हें इसी प्रकार समझना चाहिये—

ज्ञानेन्द्रिय त्रिपुटी का कोष्टक

अध्यात्म	अभिभूत	अधिदैव
श्रोत्र	शब्द	दिशा
त्वचा	स्पर्श	वायु
चक्षु	रूप	सूर्य
जिह्वा	रस	वरुण
घ्राण	गन्ध	अश्विनीकुमार

श्रोत्र=अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है तथा दिशा अधिदैव है। इन तीनों के संयोग से श्रवण रूप क्रिया होती है। यदि इन तीनों में से एक की भी कमी हो तो सुना नहीं जा सकता।

त्वचा=अध्यात्म है स्पर्श अधिभूत है तथा वायु अधिदैव है। इन तीनों के संयोग से स्पर्श रूप क्रिया होती है।

चक्षु—अध्यात्म है, रूप अधिभूत है तथा सूर्य अधिदेव है। यदि आँख तथा रूप दो ही हों, परन्तु सूर्य न हो तो दिखाई नहीं दे सकता। इसी प्रकार यदि सूर्य तथा रूप हों, परन्तु आँख न हो तो भी कुछ दिखाई नहीं देगा। इसी भाँति यदि सूर्य और आँख हो, परन्तु रूप न हो तो किसे देखा जा सकेगा? इससे यह सिद्ध होता है यदि इन तीनों में से एक की भी कमी हो तो देखना नहीं हो सकता।

जिह्वा—अध्यात्म है, रस अधिभूत है तथा वरुण अधिदेव है। इन तीनों के संयोग से रस रूप क्रिया होती है।

घ्राण—अध्यात्म है, गंध अधिभूत है तथा अश्विनीकुमार अधिदेव है। इन तीनों के संयोग से गंधरूप क्रिया होती है।

हे शिष्य! तू इन त्रिपुटियों को जानता है, अतः यह तेरी नहीं हैं। इन सबकी क्रिया इन्हीं की है। तू स्वयं त्रिपुटी नहीं है। तू इन सबका द्रष्टा साक्षी है।

पाँच कर्मेन्द्रियों की त्रिपुटी को नीचे लिखे कोष्टक में दिया गया है, अतः उन्हें इसी के अनुसार समझना चाहिये—

कर्मेन्द्रिय त्रिपुठी का कोष्टक

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैव
वाचा	वचन (बोलना)	अग्नि
पाणि	अदान (लेन-देन)	इन्द्र
पाद	गमन (आना-जाना)	उपेन्द्र
शिश्न	आनन्द (रति-भोग)	प्रजापति
गुदा	विसर्ग (मल त्याग)	यम

वाचा = अध्यात्म है, वचन अधिभूत है तथा अग्नि अधिदैव है। इन तीनों के द्वारा बोलना रूप क्रिया होती है। यदि इन तीनों में से एक की भी कमी हो तो बोलना नहीं हो सकता।

पाणि = अध्यात्म है, आदान अधिभूत है तथा इन्द्र अधिदैव है। इनके संयोग से लेना-देना रूप क्रिया होती है।

पाद = अध्यात्म है, गमन अधिभूत है तथा उपेन्द्र अधिदैव है। इन तीनों के द्वारा आवागमन रूप क्रिया होती है।

शिश्न = अध्यात्म है, आनन्द अधिभूत है तथा प्रजापति अधिदैव है, इन तीनों के द्वारा रतिभोग रूप क्रिया होती है।

गुदा = अध्यात्म है, विसर्ग अधिभूत है तथा यम अधिदैव है। इन तीनों के द्वारा मल त्याग रूप क्रिया होती है।

हे शिष्य ! तू इन त्रिपुटियों को भी जानता है, अतः तू यह नहीं है। इनके द्वारा होने वाली क्रियायें भी इन्हीं की हैं, तेरी नहीं हैं। तू इन सब से भिन्न और इनका दृष्टा साक्षी है।

चौथी प्रक्रिया

हे शिष्य ! उपर्युक्त अंतःकरण आदि जो पच्चीस तत्व हैं, वे सब पंच महाभूतों के सात्विक, राजस तथा तामस भाग में से उत्पन्न हुए हैं, अतः तू यह जान कि यह सभी तत्व पंच महाभूतों के कार्य हैं और तू उनका दृष्टा साक्षी है।"

शिष्य—"हे गुरु ! अब आप कृपा करके यह कहिये कि इन पच्चीस तत्वों में से कौन-कौन से तत्व किस-किस महाभूत के सात्विक, राजस तथा तामस भाग में से उत्पन्न हुए हैं ?"

गुरु—"हे शिष्य ! पंच भूतों के सात्विक भाग में से पाँच

अन्त:करण तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय हुए हैं। उन्हीं भूतों के राजस भाग में से पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रिय हुए हैं एवं उन्हीं के तामस भाग में से पाँच विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध उत्पन्न हुए हैं।"

शिष्य--"हे गुरु ! आपने आकाश आदि पाँच भूतों के सात्विक आदि अंशों द्वारा २५ तत्वों की उत्पत्ति कही, उसे मैंने सुना, परन्तु एक-एक भूत के एक-एक सात्विक, राजस तथा तामस भाग में से जो-जो तत्व प्रकट हुए हैं, वे सब भिन्न-भिन्न तथा स्पष्ट रूप में समझ में नहीं आये हैं अत: आप कृपा करके उन्हें स्पष्ट रूप से समझाइए ?"

गुरु--"हे शिष्य ! पंचभूतों के सात्विक, राजस तथा तामस भागों से जो तत्त्व अलग-अलग उत्पन्न हुए हैं, उन्हें नीचे दिए गए कोष्टक में समझाया गया है--

सात्विक आदि भागों के तत्त्वों का कोष्टक

पंचभूत	सात्विक भाग में से		राजस भाग में से		तामस भाग में से
	पांच अंतःकरण	पांच ज्ञानेन्द्रियाँ	पाच वायु	पांच कर्मेन्द्रियाँ	पांच विषय
आकाश के	अंत:करण	श्रोत्र	व्यान	वाचा	शब्द
वायु के	मन	त्वचा	समान	पाद	स्पर्श
तेज के	बुद्धि	चक्षु	उदान	पाणि	रूप
आप के	चित्त	जिह्वा	प्राण	शिश्न	रस
पृथ्वी के	अहंकार	घ्राण	अपान	गुद	गन्ध

कोष्ट का अर्थ

आकाश के सात्त्विक भाग से अन्तःकरण तथा श्रोत्र इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं। आकाश के राजस भाग में से व्यान वायु तथा वाचा इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं एवं तामस भाग में से शब्द विषय उत्पन्न हुआ है।

वायु के सात्त्विक भाग में से मन तथा त्वचा इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं। राजस भाग में से समान वायु तथा पाद इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं एवं तामस भाग में से स्पर्श विषय उत्पन्न हुआ है।

तेज के सात्त्विक भाग में से बुद्धि तथा चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं। राजस भाग में से उदान वायु तथा पाणि इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं, एवं तामस भाग में से रूप विषय उत्पन्न हुआ है।

जल के सात्त्विक भाग में से चित्त तथा जिव्हा इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं राजस भाग में से प्राण वायु एवं शिश्न इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं। तथा तामस भाग में से रस विषय उत्पन्न हुआ है।

पृथ्वी के सात्त्विक भाग में से अहंकार एवं घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हुए हैं, राजस भाग में से अपान वायु तथा गुदा इन्द्रिय हुए हैं एवं तामस भाग में से गन्ध विषय उत्पन्न हुआ है।"

शिष्य–"हे गुरु ! आपने यह कहा कि अन्तःकरण तथा पांच ज्ञानेन्द्रिय पंचभूतों के सात्त्विक भाग में से उत्पन्न हुए हैं, इसका क्या कारण है यह आप मुझे बताने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! गीता में कहा गया है कि 'सत्वात्संजायते ज्ञानं' अर्थात् सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। अस्तु, अन्तःकरण, मन बुद्धि आदि द्वारा सुख-दुख आदि का ज्ञान होता है एवं श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का ज्ञान होता है, अतः इस अनुभव के प्रमाण से

एवं गीता के प्रमाण से इन्हें सात्त्विक भाग में से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये।"

शिष्य–"हे गुरु ! पंच प्राण तथा पंच कर्मेन्द्रियों के, पंच-भूतों के राजस भाग में से उत्पन्न होने का क्या कारण है?"

गुरु–"हे शिष्य ! जिस प्रकार रजोगुण से क्रिया होती है, उसी प्रकार पंच प्राण तथा पंच कर्मेन्द्रियों से भी क्रिया होती है, अतः पंच प्राण तथा पंच कर्मेन्द्रियों को पंच महाभूतों के राजस भाग में से उत्पन्न हुआ जानना चाहिये।"

शिष्य–"हे गुरु ! पंच विषयों का पंच भूतों के तामस भाग में से उत्पन्न होने का क्या कारण है, यह आप मुझे समझाने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! पंच विषयों में ज्ञान नहीं है, वे केवल जड़ रूप हैं ; अतः उन्हें तामस भाग में से उत्पन्न हुआ जानना चाहिये।

हे शिष्य ! तू इन सब तत्त्वों को जानता है, अतः यह तेरे नहीं हैं। यह सब पंचभूतों के हैं और तू स्वयं यह नहीं है। तू अकर्त्ता, अभोक्ता तथा इन सबका साक्षी, इन सबसे भिन्न आत्मा है।"

पाँचवीं प्रक्रिया

शिष्य–हे गुरु ! आपने मुझे आत्मा, अकर्त्ता, अभोक्ता तथा साक्षी कहा है, तब आप यह बताने की कृपा कीजिये कि इस देह में कर्त्ता कौन है ?

सुख-दुख का भोक्ता कौन है तथा किन-किन साधनों से वह भोक्ता सुख-दुख को भोगता है ? यह सब बातें स्पष्ट रूप से समझाइये ?"

गुरु–"हे शिष्य ! इस देह में पाँच अन्तःकरण कर्त्ता तथा भोक्ता हैं। पाँच प्राण उनके वाहन हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उनके द्वार हैं। पाँच विषय उनके भोग हैं तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ उनके सेवक हैं। तू इन सबको जानने वाला अकर्त्ता, अभोक्ता, असङ्ग आत्मा है।"

शिष्य–"हे गुरु ! अन्तःकरण पञ्चक कर्त्ता तथा भोक्ता है, प्राण पञ्चक उनके वाहन हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उनके द्वार हैं, विषय पञ्चक उनके भोग हैं, तथा कर्मेन्द्रिय पञ्चक उनके सेवक हैं, यह बात आपने मुझे अत्यन्त साधारण रीति से बताई है। अब आप अलग-अलग करके स्पष्ट रूप से यह समझाने की कपा करें कि उन पांच अन्तःकरणों का कौन-कौन कर्त्ता भोक्ता है, किस किस वाहन पर बैठता है, किस-किस द्वार पर जाता है, किस-किस भोग को भोगता है तथा कौन:कौन सा सेवक उनकी सेवा करता है। इन सब बातों को स्पष्ट रूप से यदि आप समझायेंगे तो मुझे उनका ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।"

गुरु–"हे शिष्य ! अपने इस प्रश्न का उत्तर सुन––

आकाश का तत्त्व 'अन्तःकरण' कर्त्ता-भोक्ता है। वह व्यान वाहन के ऊपर बैठ कर, श्रोत्र द्वार में आता है तथा शब्द विषय रूपी भोग भोगता है अर्थात् कान के द्वारा अनुकूल अथवा प्रतिकूल शब्द सुनने के कारण अन्तःकरण में सुख-दुख रूपी भोग भोगता है। वाचा सेवक अन्तःकरण की सेवा करता है। इस प्रकार अन्तःकरण कर्त्ता-भोक्ता है और तू उनका जानने वाला दृष्टा, साक्षी आत्मा है।।

वायु का तत्व 'मन' कर्त्ता भोक्ता है। वह समान वाहन पर

बैठ कर, त्वचा द्वार में आता है और स्पर्श रूपी विषय को भोगता है। पाणि अर्थात् हाथ रूपी सेवक उस मन की सेवा करता है अर्थात् त्वचा को सर्दी लगने पर हाथ वस्त्र उढ़ाता है, गर्मी लगने पर पङ्खा झलता है, इसी प्रकार अन्य सेवायें करता है। त्वचा के ऊपर चंदन आदि का कोमल एवं अनुकूल स्पर्श होने से सुख तथा कठिन एवं ऊष्ण आदि प्रतिकूल स्पर्श होने से मन में दुःख होता है, परन्तु तू उसका जानने वाला आत्मा सुख-दुःख से रहित है। तू उसका साक्षी और निर्लेप है।

तेज का तत्व 'बुद्धि' कर्त्ता-भोक्ता है। वह उदान वाहन के ऊपर बैठकर, चक्षु द्वार में आता है तथा रूप विषय को ग्रहण करता है। पाद अर्थात् पाँव रूपी सेवक उसे दिखाने के लिये ले जाता है। इस प्रकार प्रिय पदार्थ देखने से बुद्धि सुखी होती है तथा अप्रिय पदार्थ देखने से दुःखी होती है, परन्तु तू इसका दृष्टा और अभोक्ता है।

जल का तत्व 'चित्त' कर्त्ता-भोक्ता है। वह प्राण वाहन पर बैठ कर, जिह्वा द्वार में आता है और रस विषय को भोगता है। उसका सेवक शिश्न रस का त्याग करता है अर्थात् जिह्वा से मधुर आदि अनुकूल रस तथा कड़ुए आदि प्रतिकूल रस चखने पर चित्त को सुख-दुःख होता है, परन्तु तू उसका दृष्टा साक्षी एवं अभोक्ता है।

पृथ्वी का तत्व 'अहंकार' कर्त्ता-भोक्ता है। वह अपान वाहन पर बैठ कर, घ्राण द्वार में आता है और गंध विषय का भोग करता है। उसका सेवक गुदा मल का त्याग करता है अर्थात् नाक द्वारा इत्र पुष्प आदि को अनुकूल सुगंध एवं अन्य प्रकार की दुर्गन्ध

से अहंकार को सुख-दुःख होता है, परन्तु तू उसको जानने वाला अभोक्ता है, इसलिये तेरी आत्मा को सुख-दुःख नहीं हो सकता है।

इस प्रकार कर्त्ता भोक्ता की प्रक्रिया का निरूपण करने के पश्चात् गुरु अन्य प्रकार से आकाश आदि पंच महाभूतों में प्रत्येक के पाँच-पाँच तत्वों का निरूपण करते हैं---

छठवीं प्रक्रिया

गुरु—"हे शिष्य ! आकाश के पांच तत्व यह हैं--१. अन्तःकरण, २. व्यान, ३. श्रोत्र, ४. वाचा, ५. शब्द।"

शिष्य—"हे गुरु ! अन्तःकरण आदि पाँच तत्वों को आपने आकाश का बताया है, सो आप मुझे इसका कारण बताने की कृपा कीजिये कि यह तत्व आकाश के क्यों हैं ?"

गुरु---"हे शिष्य ! स्फुरण रूप अन्तःकरण हृदयाकाश में से उत्पन्न होता है और वहीं लय हो जाता है, इसलिये यह आकाश का है।"

व्यान = सर्वांग में आकाश के समान व्यापक है, अतः यह आकाश का है।

श्रोत्र = इन्द्रिय आकाश के गुण शब्द को सुनती है अतः यह आकाश की है।

वाचा = इन्द्रिय आकाश के गुण शब्द का उच्चारण करती है अतः यह आकाश की है।

शब्द = यह आकाश का गुण प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार वायु के पांच तत्व हैं—१—व्यान, २—समान, ३—त्वचा, ४— पाणि, ५ स्पर्श।

शिष्य–"हे गुरु ! पाँच तत्व वायु के किस प्रकार हैं, यह आप बताने की कृपा कीजिये ?"

गुरु–"हे शिष्य ! मन वायु के समान चंचल है, अतः इसे वायु का समझना चाहिये।"

समान = यह स्वयं वायु है ही ।

त्वचा = वह वायु के गुण स्पर्श को जानती है, अतः यह वायु की है।

पाणि = हाथ से वायु का गुण स्पर्श होता है, अतः यह वायु का है।

स्पर्श = यह वायु का गुण है।

इसी प्रकार तेज के पाँच तत्व हैं––१. बुद्धि, २. उदान, ३. चक्षु, ४, पाद, ५. रूप ।

शिष्य–"हे गुरु ! इन पाँच तत्वों को तेज का तत्व कहने का क्या कारण है, यह आप मुझे बताने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! बुद्धि प्रकाश के समान तेजमय है, अतः यह तेज की है।

उदान = यह कंठ में अन्न जल का विभाग करके जठराग्नि में पहुँचाता है, अतः यह तेज का है।

चक्षु = यह तेज के रूप गुण को देखती है, अतः तेज की है।

पाद = इसमें विशेष करके ऊष्णता रहती है और यह तेज के गुण रूप को दिखाने के लिए ले जाती है, अतः यह इन्द्रिय भी तेज की है।

रूप = यह प्रत्यक्ष तेज का गुण है ।

इसी प्रकार जल के पाँच तत्व हैं–१, चित्त, २. प्राण, ३. जिह्वा, ४. शिश्न, ५. रस।

शिष्य–"हे गुरु ! ये पाँच तत्व जल के हैं, यह किस प्रकार जानना चाहिये सो आप मुझे बताने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! चित्त जल के समान द्रवीभूत होता है, अतः यह जल का भाग है।"

प्राण = वायु जल के बिना नहीं रहता, अतः यह जल का अंश है। श्रुति में भी कहा गया है कि 'जलमय प्राण है'।

जिह्वा = यह जल के गुण रस को ग्रहण करती है, तथा सदैव भीगी रहती है, इसलिये यह जल की है।

शिश्न = यह मूत्र रूप जल के भाग का त्याग करता है अतः यह भी जल का अंश है।

रस = यह प्रत्यक्ष जल का गुण है।

इसी प्रकार पृथ्वो के पाँच तत्व हैं–१. अहंकार, २–अपान, ३. घ्राण, ४. गुदा, ५. गंध।

शिष्य—"हे गुरु ! यह पाँचों तत्व पृथ्वी के हैं, इसका निश्चय किस प्रकार किया जाय, यह आप मुझे बताने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! अहंकार पृथ्वी के समान भारी तथा जड़ है, अतः पृथ्वी का है।

अपान–यह पृथ्वी के भाग मल की बाहर निकालता है, अतः पृथ्वी का अंश है।

घ्राण–यह पृथ्वी के गुण गंध को जानता है, अतः यह पृथ्वी का है।

गुदा–यह पृथ्वी के भाग मल का त्याग करता है अतः यह पृथ्वी का है ।

गंध–यह पृथ्वी का गुण प्रसिद्ध है ही ।

इस प्रकार तू पाँच भूतों के पच्चीस तत्त्वों का साक्षी, निर्विकार, असंग, आत्मा है तू इन्हें जानता है, अतः यह तत्त्व तू नहीं है और न यही तेरे हैं, तू इनसे भिन्न है ।"

सातवीं प्रक्रिया

शिष्य–"हे गुरु ! आपने पहली प्रक्रिया में आकाश के तत्त्व पाँच अन्तःकरण, वायु के तत्त्व पाँच प्राण, तेज के तत्त्व पांच ज्ञानेन्दिय, जल के तत्त्व पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पृथ्वी के तत्त्व पांच विषयों को बताया है, परन्तु अब आपने इस अर्थात् छठवीं प्रक्रिया के अनुसार उसे दूसरे प्रकार से वर्णन किया है, इसका क्या कारण है ?

पहले बताये हुए के विरुद्ध अब आपने यह बताया है कि–

आकाश–इसके पांच तत्त्व-अन्तकरण, व्यान, श्रोत्र, वाचा तथा शब्द हैं ।

वायु–इसके पाँच तत्त्व–मन, समान, त्वचा, पाणि तथा स्पर्श हैं ।

तेज–इसके पाँच तत्त्व–बुद्धि, उदान, चक्षु, पाद तथा रूप हैं ।

जल–इसके पाँच तत्त्व–चित्त, प्रान, जिव्हा, शिश्न तथा रस हैं ।

पृथ्वी–इसके पाँच तत्त्व अहंकार, अपान, घ्राण, गुदा तथा गध हैं । अतः इस प्रकार भेद करके बताने का क्या कारण है ?"

गुरु—"हे शिष्य ! मुख्य करके वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में अपंचीकृत पंचभूतों के सत्रह तत्वों से ही सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति कही गई है, परन्तु मुमुक्षुओं को स्थूल रीति से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं द्वारा पंचीकरण की सूक्ष्म देह के पच्चीस तत्त्वों को कोष्टक में निरूपण करके स्पष्ट बताने का प्रयत्न किया गया है तथा उसमें आकाश के तत्त्व को वायु आदि भूतों में मिलने से एवं वायु आदि तत्व के आकाश आदि तत्वों में मिलने से पहली तथा छटवीं प्रक्रिया में अलग-अलग रूप से निरूपण किया गया है। इसी कारण प्रक्रियाओं में ऐसा अन्तर पड़ गया है। परन्तु इन सब में केवल यही समझना चाहिये कि भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपण किये हुऐ यह सभी तत्व भौतिक होने के कारण अनात्म रूप एवं दृश्य हैं तथा आत्मा इन सब से भिन्न निर्विकार रूप है।"

आठवीं प्रक्रिया

शिष्य—"हे गुरु ! आपने सूक्ष्म देह के जो यह पच्चीस तत्व कहे हैं, सो अब मुझे यह बताने की कृपा कीजिये कि क्या तत्व २५ ही हैं अथवा इससे कुछ कम अधिक है ?"

गुरु—हे शिष्य ! वेद शास्त्रों में बहुत स्थानों पर पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण मन बुद्धि (इन दोनों को एक में मिला कर) सोलह तत्वों का सूक्ष्म देह कहा गया है। कहीं कहीं मन तथा बुद्धि को अलग-अलग मान कर सत्रह तत्वों का सूक्ष्म देह कहा गया है तथा कहीं-कहीं इन सत्रह तत्वों के अतिरिक्त चित अहंकार इन दो तत्वों को और मिला कर अर्थात् कुल उन्नीस तत्वों से सूक्ष्म देह का निर्माण बताया है और कहीं अष्टपुरी में सूक्ष्म देह को सत्ताईस तत्वों का भी कहा गया है।"

अष्टपुरी की व्याख्या

शिष्य–"हे गुरु ! आपने अष्टपुरी में सत्ताईस तत्वों का सूक्ष्म शरीर बताया परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता है कि अष्टपुरी क्या है ? अतः आप मुझे समझाने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! पाँच ज्ञानेन्द्रियों की एक पुरी, पाँच कर्मेन्द्रियों की दूसरी पुरी, चार अन्तःकरण की तीसरी पुरी, पाँच प्राणों की चौथी पुरी, पंच महाभूतों पाँचवीं पुरी, अविद्या की छठवीं पुरी, काम सातवीं पुरी और कर्म आठवीं पुरी है। इन आठ पुरियों को मिला कर सत्ताईस तत्व होते हैं। तू इन सब तत्वों का दृष्टा है। यह तत्व दृश्य. जड़. विकारी तथा अनात्म रूप हैं।"

शिष्य---"हे गुरु ! जब इस प्रकार से सूक्ष्म देह के भिन्न २ तत्वों का निरुपण किया गया है, तब इनमें से किसको मानना चा हिये ?आप मुझे यह भी बताने की कृपा करें कि एक सूक्ष्म देह के तत्वों की भिन्न--भिन्न संख्या बताने का कारण क्या है ?'

गुरु–"हे शिष्य ! तुझे एक कार्य करना चाहिये कि जिन–जिन प्रक्रियाओं में तू यह समझ सके कि सूक्ष्म शरीर जड़ पंच भूतों का विकार रूप है तथा आत्मा असंग, अजर, अमर, अक्रिय एवं सच्चिदानन्द रूप है, उन्हीं प्रक्रियाओं को तू मान, क्योंकि कार्य कारण की एकता से किसी स्थान में तो थोड़े तत्वों का वर्णन किया गया है और किसी स्थान में कार्य कारण को अलग–अलग कह कर अधिक तत्वों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे सब तत्व दृश्य, अनात्म, परिणामी एवं जड़ ही है, इसलिये उन सब का त्याग करना चाहिये और उनसे भिन्न दृष्टा, परिणामरहित एवं चैतन्य रूप आत्मा को अपरोक्ष रूप से निश्चय करके जानना चाहिये।'

नवी प्रक्रिया

गुरु—"हे शिष्य ! जिस प्रकार स्थूल देह अन्नमय कोष रूप है और तू उससे भिन्न आत्मा है, उसी प्रकार इस सूक्ष्म शरीर में भी प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय यह तीन कोष हैं। तू इन तीनों कोषों से भिन्न अर्थात कोषातीत है।"

शिष्य—"हे गुरुदेव, इन तीनों कोषों के स्वरूप का मुझ से अलग-अलग वर्णन कीजिये।"

गुरु–"हे शिष्य,पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रिय इन दस तत्वों से मिल कर प्राण मय कोष होता है, ऐसा समझना चाहिये अथवा पाँच प्राण और पाँच उपप्राण मिलकर प्राणमय कोष होता है, ऐसा जानना चाहिये।"

शिष्य–"हे गुरु ! पाँच प्राण को तो मैं जानता हूँ, परन्तु पाँच उपप्राणों को आपने नहीं बताया, इसलिये मैं नहीं जानता। अस्तु, अब आप कृपा करके मुझे उनके नाम क्रिया आदि को स्पष्ट रूप से बताने की कृपा कीजिये।"

गुरु–"हे शिष्य ! १. नाग, २. कूर्म, ३. कृकल, ४. देवदत्त तथा ५ धनञ्जय यह पाँच उपप्राण कहलाते हैं। इनमें से प्रत्येक की क्रिया अलग-अलग होती है। वह इस प्रकार है—

नाम = इससे डकार आती है।

कूर्म = इससे आँख खुलती और बन्द होती हैं।

कृकल = इससे छींक आती है।

देवदत्त = इससे जम्हाई आती है।

धनञ्जय = यह सम्पूर्ण शरीर में रहकर शरीर को पुष्ट करता है तथा मृत्यु होने पर शव को फुला देता है।

यह दसों वायु प्राण रूप हैं, इसीलिए इन्हें प्राणमय कोष का नाम दिया गया है। यह प्राणमय वायु आत्मा को कोष के समान ढके रहते हैं, इसीलिये इन्हें कोष की संज्ञा दी गई है। यह आत्मा को ठीक उसी प्रकार ढके रहते हैं जिस प्रकार कि म्यान तलवार को ढाके रहतो है। हे शिष्य ! तू इसका दृष्टा साक्षी आत्मा तथा इससे भिन्न है ।

इसी प्रकार प्राणमय कोश के भीतर 'मनोमय कोश' है पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन मिल कर कोश कहलाता है । तू उससे भिन्न, उसका साक्षी और आत्मा है ।

इसी प्रकार—मनोमय कोश में विज्ञानमय कोश है। वह पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि इन छै तत्त्वों से निर्मित है। तू उसका जानने वालाऔर उससे भिन्न आत्मा है।

इस प्रकार तू सूक्ष्म देह के तीनों कोशों से भिन्न है। वे तीनों कोश रूप सूक्ष्म देह तू नहीं है। जब ऐसी वात है तो उनके कर्म सुख-दुख आदि तेरे किस प्रकार हा सकते हैं ?

सुख-दुख आदि अन्तःकरण के धर्म हैं एवं सुनना, देखना आदि इन्द्रियों के स्वभाव हैं। बोलना, लेना, देना आदि कर्मेन्द्रियों के धर्म हैं तथा क्षुधा, तृषा आदि धर्म प्राण के हैं। इनमें से एक भी तेरा नहीं है। अतः तू इन तीनों कोशों से भिन्न, असंग, साक्षी आत्मा है।

इस प्रकार सूक्ष्म देह के कोष्टक में जो ९ प्रक्रियाओं का निरूपण किया गया है, उन प्रक्रियाओं का विवेचन ब्रह्म निष्ठ

सद्गुरु के उपदेश से समझना चाहिये तथा स्वयं को उस सूक्ष्म देह से विलक्षण, सद्रूप चिद्रूप, आनन्द रूप, अकर्त्ता, अभोक्ता तथा असंग आत्मा निश्चय करना चाहिये। ऐसा विचार करके भौतिक तथा अनात्म रूप जो सूक्ष्म देह है, उससे अहंता-ममता का त्याग करना चाहिये।"

इस प्रकार सूक्ष्म देह का निरूपण किया गया। अब सूक्ष्म शरीर की स्वप्न अवस्था के अन्य आठ तत्वों का निरूपण सद्गुरु १३ वीं चौपाई में करते हैं—

॥ चौपाई ॥

स्वप्न अवस्था कंठस्थान। मध्यमा वाचा प्रविविक्त भोग जाण।
ज्ञानशक्ति सत्वगुण मान। उकार मात्रा तैजस अभिमान ॥१३॥

अर्थ—उपर्युक्त सूक्ष्म देह की स्वप्नावस्था है।

शिष्य—"हे गुरु महाराज! स्वप्नावस्था किसे कहते हैं?"

गुरु—"हे शिष्य! जाग्रत अवस्था में जो विषय देखे-सुने होते हैं उनका संस्कार अन्तःकरण पर रहता है। उन्हीं संस्कारों के योग से निद्रावस्था में गाड़ी, घोड़ा, मार्ग, नदी, पर्वत, समुद्र, तथा स्त्री-पुत्र कुटुम्ब आदि व्यवहार, हानि, लाभ, सुख-दुख आदि का प्रपञ्च दिखाई देता है। यद्यपि वह सत्य नहीं होता परन्तु वह सब प्रपञ्च सत्य के समान ही प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था को स्वप्नावस्था कहा जाता है। उस अवस्था को तू जानता है इसलिए तू स्वप्नावस्था नहीं है और वह अवस्था सूक्ष्म देह की है, अतः तेरी नहीं है। तू इसका साक्षी और उससे भिन्न है।

हे शिष्य! इस स्वप्नावस्था का स्थान कंठ है। कण्ठ में 'हिता' नामक नाड़ी है। उसीमें स्वप्नावस्था उपस्थित होती है।

उस अवस्था में मध्यमा वाचा तथा प्रविविक्तअर्थात् सूक्ष्म वासना-मय भोग रहता है। जिस प्रकार कपूर केशर आदि सुगन्धित वस्तुओं को किसी डिब्बे में रख दिया जाय तो उस वस्तु को निकाल लेने के बाद भी उस डिब्बे में उनकी सूक्ष्म सुगन्ध रह जाएगी; उसी प्रकार स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था के सब स्थूल भोग आदि निवृत हों जाते हैं, तो भी जाग्रत अवस्था के स्थूल भोग का संस्कार रूप सूक्ष्म भोग स्वप्नावस्था में अनुभव होता है. ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में अन्न आदि खाने से शरीर पुष्ट होता है तथा शस्त्र आदि लगने से शरीर से रक्त निकलता हैं. उस प्रकार स्वप्नावस्था में यद्यपि अन्न आदि खाने से देह पुष्ट नहीं होती है और शस्त्र आदि लगने से रक्त नहीं निक-लता, तो भी सुख-दुख का भोग मात्र अवश्य होता है। अतः सूक्ष्म शरीर के भोग को सूक्ष्म भोग कहा गया है। स्वप्न में ज्ञान शक्ति अर्थात् स्वप्न के पदार्थों के जानने की शक्ति रहती है, उस स्वप्न अवस्था में सत्वगुण होता है।

शिष्य–"हे गुरु! शास्त्र में बहुत स्थानों पर 'जाग्रत अवस्था तत्त्वगुण तथा स्वप्न अवस्था में रजोगुण रहता हैं' ऐसा कहा गया है, परन्तु आपने 'स्वप्नावस्था में सत्त्वगुण तथा जाग्रत अवस्था में रजोगुण रहता है' ऐसा बताया है, सो आप मुझे यह बताने की कृपा करें कि इसका कारण क्या है ?"

गुरु–"हे शिष्य ! किसी स्थान पर जाग्रत अवस्था में सत्त्वगुण कहा गया है, उसका कारण यह है कि जाग्रत अवस्था में विषयों का ज्ञान रहता है एवं शान्त, दान्त आदि शुभ साधनों की उत्पत्ति होती है तथा अन्तःकरण में मोक्ष प्राप्ति की इच्छा

प्रकट होने पर ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर श्रवण, मनन आदि करने से उस आत्मा का ज्ञान भी प्राप्त होता है। इस विचार से ही उस अवस्था को सत्त्वगुण कहा गया है, परन्तु मैंने जाग्रत अवस्था में जो रजोगुण बताया है, उसका कारण यह है कि जाग्रत अवस्था में विशेष कर क्रिया होती है तथा क्रिया का विशेषकर रजोगुण का कार्य है। इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में सत्त्वगुण कहने का कारण यह है कि स्वप्नावस्था में केवल विषयों का ज्ञान ही होता है, क्रिया कुछ नहीं होती; अतः चूंकि ज्ञान सत्त्वगुण का कार्य है: इसीलिए मैंनें तुझे स्वप्नावस्था में सत्त्वगुण बताया है। गीता में भी यह बात इसी प्रकार कही गई है।

स्वप्न में प्रणव अर्थात् ओंकार की दूसरी मात्रा उकार है तथा स्वप्नावस्था में सुख.दुख को भोगने वाला तेजस नामक अभि. मानी रहता है। अस्तु, हे शिष्य ! तू उपरोक्त स्वप्न आदि आठ तत्वों का दृष्टा कहा है, इसलिए तू वह तत्व नहीं है और स्वप्नावस्था आदि तत्त्व तेरे नहीं हैं। तू उनका साक्षी आत्मा है।"

॥ चौपाई ॥

ऐ मलीन तेत्रीश तत्त्व जाण। तूं एनो दृष्टा छो सुजाण॥
तूं ए दृश्य तत्त्व नहीं होई। भिन्न-भिन्न विचारो जोई ।१४।

टीका—पहले कहे हुए अन्तःकरण आदि पच्चीस तत्त्व तथा अभी कहे हुए आदि आठ तत्त्व, इन सब को मिलाकर सूक्ष्म देह के ३३ तत्त्व होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। हे सुजान बुद्धि-

मान शिष्य ! तू इन तेतीसों तत्त्वों का दृष्टा आत्मा है। ये सब तत्त्व तेरे दृश्य है, अतः तू यह नहीं हैं। इन सब तत्त्वों को भिन्न-भिन्न करके जब तू विचार करेगा, तो तू इन सब से भिन्न सिद्ध होगा। तू ज्ञान रूप है और यह सब तत्त्व जड़ रूप एवं दृश्य हैं, इसलिए ये तेरे नहीं हैं, ऐसा तुझे प्रत्यक्ष अनुभव होगा। निम्न लिखित १५ वें दोहे में दृष्टान्त देकर सूक्ष्म देह से आत्मा की भिन्नता को गुरु सिद्ध करते हैं--

॥ चौपाई ॥

घट द्रष्टा ज्यों नहीं, प्रगट ही न्यारो देख।
त्यों देह द्रष्टा तूं आत्मा, न्यारो भिन्न विशेष ॥१५॥

अर्थ–"जिस प्रकार घट को देखने वाला स्वयं घट नहीं है, वह घट से भिन्न है, ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है; उसी प्रकार तू दृश्य, जड़ तथा भौतिक सूक्ष्म देह का जानने वाला आत्मा है और उस सूक्ष्म देह से निस्सन्देह विशेष भिन्न है।

इस प्रकार 'स्थूल तथा सूक्ष्म इन दोनों ही देह से आत्मा भिन्न है' ऐसा शिष्य को स्पष्ट अनुभव कराके अब गुरु 'तीसरी कारण रूप देह से भी आत्मा भिन्न है' ऐसा अनुभव शिष्य को कराते हैं। उस कारण देह का निरूपण सद्गुरु ने इस प्रकार किया है--

चौपाई---

त्रीजो कारण देह अज्ञान।
तेनी तूं दृष्टा पोते स्वरूप ज्ञान ॥
तेथी विलक्षण तूं आत्मा जाना।
तै तूं नहीं अनुभव प्रमाण ॥ १६ ॥

टीका–"पहिला देह स्थूल है और दूसरा सूक्ष्म है, इन दोनों की अपेक्षा से तीसरा कारण देह होता है। कारण देह अज्ञान का नाम है।"

शिष्य–"हे गुरु ! अज्ञान का नाम कारण देह क्यों पड़ा ?"

गुरु–"हे शिष्य ! अज्ञान में से स्थूल तथा सूक्ष्म यह दोनों देह उत्पन्न हुई हैं, अतः अज्ञान दोनों देह का कारण है, इसीलिये अज्ञान का नाम कारण देह पड़ा है। अस्तु, जिस प्रकार तू स्थूल तथा सूक्ष्म इन दोनों देह का दृष्टा है, उसी प्रकार तू कारण देह का दृष्टा है। तू स्वयं ज्ञान रूप है, इसलिये अज्ञान रूप तीसरा कारण देह नहीं है।"

शिष्य—"हे महाराज ! स्थूल देह के सम्पूर्ण तत्त्व प्रत्यक्ष देखनें में आते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देह के तत्त्व भी अनुमान से जाने जाते हैं, अतः वे सब दृश्य हैं और मैं उन स्थूल तथा सूक्ष्म देह का दृष्टा हूँ, यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है, परन्तु आपने जो तीसरा अलीन रूप कारण देह कहा है, वह न तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है और अनुमान से ही जाना जाता है, ऐसी स्थिति में 'कारण देह रूप अज्ञान दृश्य है और मैं उसका दृष्टा हूँ' यह अनुभव किस प्रकार हो, सो आप मुझे समझाने की कृपा करिये ?"

गुरु–"हे शिष्य ! तीसरे कारण देह रूप अज्ञान का तू तीन प्रकार से दृष्टा है।"

शिष्य–"हे प्रभो ! मैं किन तीन प्रकारों से अज्ञान को जान सकता हूँ, यह आप कहने की कृपा कीजिये ?"

गुरु–"हे शिष्य ! तू जो यह कहता है कि मैं स्थूल तथा सूक्ष्म देह को जानता हूँ परन्तु अपने को नहीं जानता कि "मैं कौन हूँ" इसी का नाम अज्ञान है। तू इस अज्ञान का दृष्टा है, क्योंकि मैं

अपने को नहीं जानता" यह कहना बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त "मैं अपने को नहीं जानता" ऐसा जानने के कारण तू ज्ञान रूप है। ज्ञान के बिना ऐसा जानना अथवा बोलना सम्भव नहीं है। यदि तू ज्ञान रूप नहीं है तथा अज्ञानी और जड़ रूप है, तो "मैं अपने को नहीं जानता" ऐसा तू किस प्रकार कह सकता है? मिटट्टी का घड़ा, जड़ तथा ज्ञान हीन होता है, अतः अर्थात् वह "मैं अपने को नहीं जानता" इस प्रकार कभी नहीं कह सकता, परन्तु तू वैसा बोलता हुआ दिखाई देता है कि "मैं अपने को नहीं जानता" इसलिये उस घड़े को जो अज्ञान है और वह अज्ञान तुझे नहीं है, इसलिये अज्ञान दृश्य है और तू उसका दृष्टा है। यह एक प्रकार हुआ, अब दूसरा प्रकार यह है—

"मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार जो तू कहता है, उस कहने से यह सिद्ध होता है कि दृश्य रूप जो अज्ञान है, उसे तू स्वयं जानता है, फिर उसका अपने में अध्यारोप करके यह कहता है कि "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार अज्ञान को जानने वाला तू ज्ञान रूप आत्मा अज्ञान से भिन्न है। यदि तू अज्ञान से भिन्न नहीं होता तो 'मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार तेरे द्वारा कहना सम्भव नहीं था। स्थूल देह के मोटा, पतला, काला गोरा आदि धर्मों को तू जानता है कि मेरी यह मोटी, पतली अथवा काली, गोरी आदि है, परन्तु तू स्थूल देह और उसके धर्मों को जानने वाला होते हुये भी उससे अलग सिद्ध होता है, इसलिये अपने अज्ञान से दृश्य रूप जान कर भी प्रेम के कारण 'मैं अज्ञानी हूँ" ऐसा अध्यारोप करता है। यदि तू विचार करके अनुभव से देखे तो तू यह जानेगा कि तू इस अज्ञान को जानने वाला साक्षी आत्मा ज्ञान रूप है। तेरा इस अज्ञान से लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। उस स्थिति में 'मैं अज्ञानी

हूँ" ऐसा तेरा कहना तथा जानना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार तीसरा प्रकार यह है--

अज्ञान के दोनों प्रकार के कार्य असत् रूप तथा अभान रूप नामक दोनों ही आवरणों को तू जानता है।"

शिष्य-"हे गुरु ! असत् आवरण तथा अभान रूप आवरण किसे कहते हैं, यह आप मुझे बताने की कृपा करें ?"

गुरु-"हे शिष्य ! जब कोई तुझसे यह पूछता है कि "क्या तू आत्मा को जानता है ?" तब तू इस प्रकार कहता है कि "आत्मा कहाँ है, जिससे मैं उसे जान सकूँ ? अर्थात् आत्मा नहीं है और वह दिखाई भी नहीं देता है। तेरे कहने के इस आशय का कि "आत्मा नहीं है" नाम ही असदावरण है तथा "आत्मा दिखाई नहीं पड़ता" इसका नाम अभानावरण है। अब यह समझना है कि आत्मा नहीं है और दिखाई भी नहीं देता, तब इनको जो जानता है वह आत्मा तू है।

तू जो यह कहता है कि "मैं आत्मा नहीं हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ, मुझे प्रश्नों के उत्तर नहीं आते" आदि यह सब अज्ञान के कार्य हैं और तू इनको जानने वाला है, अतः तू अज्ञान रूप तीसरी कारण देह से विलक्षण और भिन्न होने के कारण ज्ञान रूप आत्मा है। इसलिये तू अज्ञान रूप कारण देह नहीं है, ऐसा समझ।"

शिष्य-"हे गुरु ! मैं अज्ञान रूप कारण देह नहीं हूँ, इसका प्रमाण क्या है, यह आप मुझे बताने की कृपा करें ?"

गुरु-"हे शिष्य ! उपरोक्त तीनों प्रकार की कारण देह से आत्मा भिन्न है, ऐसा विद्वानों का अनुभव है, जो मैंने तुझसे कहा

है। वह अनुभव ही इसका प्रमाण है। आत्मा सूर्य के समान स्वयं प्रकाशवान है तथा अज्ञान से भिन्न है, ऐसा श्रुति में भी निरूपण किया गया है। इसलिये विचार करके तू यह निश्चय कर, कि तू इन तीनों कारण देहों से भिन्न है।"

इस प्रकार कारण देह का निरूपण करके अब उसी कारण देह के आठ तत्वों का वर्णन सत्रहवीं चौपाई में सद्गुरु करते हैं--

॥ चौपाई ॥

सुषुप्ति अवस्था हृदय स्थान।
पश्यन्ति वाचा आनन्द भोग जाण॥
द्रव्य शक्ति तमोगुण मान।
मकार मात्रा प्राज्ञअभिमान॥ १७॥

टीका--"कारण देह की अवस्था सुषुप्ति है।"

शिष्य--"हे गुरु ! सुषुप्ति अवस्था किसे कहते हैं ?"

गुरु--"हे शिष्य ! जिस समय गहरी नींद में इन्द्रियों का व्यापार तथा सर्व वृत्ति संयुक्त बुद्धि अज्ञान में लय हो जाती है तथा जिस समय जाग्रति और स्वप्न अवस्था का भिन्न-भिन्न व्यवहार गहरी नींद की अवस्था में तनिक भी प्रतीत नहीं होता, उस गहरी नींद की अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है अर्थात् उस गहरी नींद की अवस्था में जीव को शब्दादिक विषयों की किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहती तथा किसी भी प्रकार का स्वप्न भी दिखाई नहीं देता। ऐसी ही अवस्था का नाम सुषुप्ति अवस्था है।

"हे शिष्य ! तू उस सुषुप्ति अवस्था का दृष्टा है, क्योंकि तू उस सुषुप्ति अवस्था से जगने के बाद यह कहता है कि "सुखमह-

मस्वाप्सं न किंचिद वैदिषं" अर्थात् मैं ऐसे सुख पूर्वक सोया कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। अस्तु, जगने पर तुझे जो ऐसी स्मृति होती है, उससे प्रतीत होता है कि सुषुप्ति अवस्था में केवल सुख का ही अनुभव होता है, दुःखमय प्रपंचों का अनुभव नहीं होता। तू उस सुषुप्ति अवस्था का सुख अनुभव करने वाला आत्मा है, इसीलिए तू जगने पर यह कहता है "मैं सुख से सोया" यदि तू सुषुप्ति अवस्था में सुख के भाव तथा दुःख के अभाव को अनुभव न करे तो भला जागने पर ऐसा कैसे कह सकता है कि "आज मैं ऐसे सुख से सोया कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं हुआ ?" शास्त्र में कहा गया है कि जीव को अपने अनुभव किये हुए की ही स्मृति रहती है, जिस प्रकार कोई पुरुष काशी गया हो और वहाँ विश्वनाथजी के मन्दिर तथा गङ्गा के मणिकर्णिका घाट को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव करे, तो उस पुरुष को अपने देश में लौटने से काशी के विश्वनाथ मन्दिर तथा मणिकर्णिका घाट को स्मृति बनी रहती है; उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जीव जिस सुख को अनुभव करता है, उसी के सम्बन्ध में वह यह कहता है कि "आज मैं सुख से सोया था।" सुख का अनुभव करने के कारण ही उसे उसकी स्मृति बनी रहती है।

दूसरा दृष्टान्त

कल्पना करो, रात्रि में पहरा देने वाला सिपाही मार्ग में खड़ा रह कर बराबर पहरा देता रहे और सबेरा होने पर कोई मनुष्य उससे यह पूछे कि "हे भाई, सिपाही ! रात्रि के २ बजे सड़क से कौन गया था।" और उस समय सिपाही वह उत्तर दे कि "हे भाई ! उस समय कोई भी सड़क से नहीं गया था" तो सिपाही के इस उत्तर से यह सिद्ध होता है कि "उस समय उस रास्ते से

कोई नहीं गया था" इस बात को देखने वाला सिपाही उस जगह उपस्थित था, तभी वह यह कह रहा है कि "वहाँ से कोई नहीं गया था" यदि उस समय सिपाही स्वयं वहाँ उपस्थित न होता तो "कोई नहीं गया था-" इस बात को वह नहीं कह सकता था। इसी प्रकार "निद्रा के समय मैंने कुछ नहीं जाना।" इस बात को जो जीव जगने पर कहता है. उसके विषय में यह समझ लेना चाहिये कि निद्रा के सयय उसे किसी प्रकार का दुःखमय द्वैत प्रपंच नहीं था, परन्तु उस प्रपंच के अभाव को जानने वाला स्वतः आत्मा वहाँ स्थित था।

शिष्य-"हे गुरु ! यदि सुषुप्ति अवस्था को जानने वाला आत्मा है, तो वह निद्रा में ही ऐसा क्यों नहीं कहता कि मैं सुषुप्ति अवस्था को जानता हूँ तथा जगने पर ही वह इस प्रकार क्यों कहता है ?"

गुरु-"हे शिष्य ! जिस समय सुषुप्ति अवस्था होती है, उस समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि अन्तः करण के अज्ञान में लय होजाते हैं, अस्तु उस समय होने वाले अनुभव को वर्णन करने के लिये वाणी आदि इन्द्रियाँ असमर्थ रहती हैं; क्योंकि निद्रा के समय जो अनुभव होता है, उसे बोला अथवा देखा नहीं जा सकता। जगने के बाद ही बोला अथवा देखा जा सकता है।

दृष्टान्त

कल्पना करो, कोई एक स्त्री कुए पर पानी भरने के लिये गई। वहाँ पानी खींचते समय उसके नाक की नथ रस्सी में लिपट जाने के कारण कुए में गिर पड़ी। तब वह उस नथ को कुए से बाहर निकालने की चिन्ता करने लगी। उसी समय भाग्यवश उसका

कोई परिचित आदमी उधर आ निकला। उसे देखकर स्त्री ने कहा–"हे भाई ! मेरी नथ पानी खींचते समय कुए में गिर गई है, यदि तू उसे बाहर निकाल दे तो मैं घर पहुँच कर तेरे परिश्रम के योग्य इनाम तुझे दूँगी।" यह सुन कर वह मनुष्य कुए में उतरा और गहरे पानी की तह में पहुँच कर, उसने अपने हाथों से टटोल कर स्त्री की नथ को ढूँढ़ लिया, उस समय पानी की सतह के नीचे नथ को पाकर मनुष्य को जो अपार आनन्द प्राप्त हुआ, उसे वह पानी के भीतर यों नहीं कह सकता है कि "तुम्हारी नथ मिल गई है !" इसका कारण यह है कि पानी के भीतर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ काम करती हैं, परन्तु वाक् इन्द्रिय के देवता अग्नि का जल से प्रत्यक्ष विरोध है, इसलिये अपने देवता के अभाव में वाक् इन्द्रिय वहाँ कार्य नहीं कर सकती। यही कारण है कि उस नथ को पाकर मनुष्य को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे वह वर्णन नहीं कर सकता, परन्तु उसका अनुभव स्वयं करता है। तदुपरान्त जल से बाहर आने पर वह यह कहता है कि "तुम्हारी नथ मिल गई।"

इसी प्रकार–सिद्धान्त–यह समझना चाहिए कि सुषुप्ति अवस्था में होने वाले सुख के अनुभव को, उसको वर्णन करने वाले साधन मन वाणी के न होने से, कहा नहीं जा सकता। परन्तु उस समय प्रपंच के अभाव को अनुभव करने वाला स्वप्रकाश ज्ञानानन्द रूप आत्मा है जो जागने पर मन वाणी आदि के साधनों द्वारा यह कहता है कि "मैं ऐसे सुख से सोया जो और कोई बात नहीं जान सका" अतः हे शिष्य ! सुषुप्ति अवस्था का द्रष्टा तू उस आत्मा उस अवस्था से भिन्न है, यह बात सिद्ध है।

पहले निरूपण किए हुए अनुसार सुषुप्ति अवस्था का स्थान

हृदय है, १—पश्यन्ति वाचा है, २—आनन्द भोग है, ३—द्रव्य शक्ति है, तमोगुण गुण है, प्रणव की तीसरी मात्रा ४—मकार मात्रा है तथा ५—प्राज्ञा अभिमान है।

"हे शिष्य ! तू इन सुषुप्ति आदि ८ तत्त्वों को जानता है, अतः तू यह तत्त्व नहीं है। यह सब कारण देह के हैं, अतः तेरे नहीं है। तू इन सब का साक्षी है।"

॥ चौपाई ॥

ए कारण देहनां, आठ तत्त्व कही। बीजा तत्त्व एमां नहीं॥
तू एनों साक्षी सच्चिदानन्द। नित्य निरन्तर परमानन्द ॥१८॥

अर्थ—पहले कह आये हैं कि कारण देह के ८ तत्त्व होते हैं। वे तत्त्व यह हैं १—सुषुप्ति अवस्था, २—हृदय स्थान, पश्यन्ति वाचा, ४—आनन्द भोग, ५—द्रव्य शक्ति, ६—तमोगुण, ७—मकार मात्रा तथा ८—प्राज्ञ अभिमान। इनके अतिरिक्त कारण देह में अन्य तत्त्व नहीं हैं, परन्तु इस कारण देह में आनन्द मय नामक पांचवा कोष है।"

शिष्य—"हे गुरु ! आनन्द मय कोष किसे कहते हैं, यह यह कृपा करके बतलाइये ?"

गुरु—"हे शिष्य ! कारण शरीर रूप अविधा में जो मलिन

१—सूक्ष्म विचार के संस्कार रूप को 'पश्यन्ति वाचा' कहा जाता है।
२—निर्विषय सुख के भोग को 'आनन्द भोग' कहते हैं।
३—जाग्रत आदि व्यवहार के अनुकूल पदार्थों के उत्पन्न होने के कारण रूप शक्ति को 'द्रव्यशक्ति' कहा जाता है।
४—"म" अक्षर ही 'मकार मात्रा' है।
५—सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी चैतन्य को 'प्राज्ञ' कहा जाता है।

तत्त्व है, उसमें प्रिय मोद तथा प्रमोद नामक वृत्तियों से जो आनन्द होता है, उसे आनन्दमय कोष कहते हैं।"

शिष्य–"हे गुरु महाराज ! प्रिय मोद तथा प्रमोद इन तीन पदों का अर्थ क्या है ?"

गुरु–"हे शिष्य ! अपने इष्ट अर्थात् अनुकूल पदार्थों को देख कर जो आनन्द होता है, उसे 'प्रिय' कहते हैं। उस प्रिय पदार्थ को प्राप्ति पर जो सुख होता है, उसे 'मोद' कहते हैं तथा उस पदार्थ के प्राप्त होने के बाद उसे भोगने मे जो सुख होता है, उसे 'प्रमोद' कहते हैं। इस प्रकार विषय के सम्बन्ध से प्रिय मोद तथा प्रमोद इन तोन प्रकार की वृत्तियों का उदय होता है उसी को आनन्दमय कोष कहा जाता है; परन्तु इस विषय जन्य आनन्द के द्वारा शुद्ध निर्विकार आत्मा को नहीं जाना जा सकता अर्थात् उक्त प्रिय आदि तीनों के आनन्द संयुक्त जो अविधा का मलिन सत्व है, उसी से आत्मा ढको हुआ है, अतः उसे आनन्दमय कोष की संज्ञा दी जाती है। इस आनन्दमय कोष का प्रकाशक सर्व आनन्द का मूल भूत आनन्द स्वरूप जो तू आत्मा है, वह उससे भिन्न है; अतः तू कारण देह के तत्त्व तथा आनन्दमय कोष का साक्षी है। तू सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, निरन्तर (भेद रहित) तथा निरतिशय (जिस से बढ़ कर कोई नहीं है) ऐसा परमानन्द रूप है।"

शिष्य–"हे गुरु देव ! मैं सच्चिदानन्द हूँ, यह बात जिस प्रकार स्पष्टरूप से समझ में आ सके, उसके लिये आप सत्, चित्त् तथा आनन्द इन तीनों पदार्थों के अर्थं को स्पष्ट समझाने की कृपा कीजिये।"

गुरु–"हे शिष्य ! जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं तथा भूत भविष्य एवं वर्तमान् इन तीनों कालों में आत्मा एक रूप रहता है, इसलिये तू सत् है तू जाग्रति आदि तीनों अवस्थाओं का ज्ञाता है. इसलिये चित् है तथा आत्मा सदैव परम प्रेमास्पदरूप है अतः तू आनन्द स्वरूप है।"

शिष्य–"हे गुरु मैं तीनों अवस्थाओं में सच्चिदानन्द रूप हूँ" इस बात का मुझे स्पष्ट रूप से अनुभव होने लगे, ऐसा आप उत्तम रीति से समझा कर कहने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! जाग्रत् अवस्था में जगने से लेकर सोने तक, जितना व्यवहार होता है तू उस सब को जानता है तथा जाग्रत् अवस्था में शब्द स्पर्श आदि का जो ज्ञान होता है, एवं गमन आदि जो क्रिया होती हैं. उन सब के व्यवहार को तू कह कर बतलाता है, इस लिये तू जाग्रत् अवस्था में जानने वाला सरूप आत्मा है। यदि तू सद्रूप आत्मा न हो तो जागत् के व्यवहारों को तू वर्णन नहीं कर सकता और न जान ही सकता है, इस लिये तू सद्रूप है। जाग्रत् अवस्था में तू यह जानता है कि मैं सद्रूप हूँ। जाग्रत् अवस्था में स्त्री-पुत्र देह इन्द्रिय आदि से तथा प्राण से भी अधिक प्रिय आत्मा है, इस लिए तू आनन्द रूप आत्मा है। पंच दशी में कहा गया है कि—

॥ श्लोक ॥

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रातपिंडः पिंडात्तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियात्त्व प्रियः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः ॥

पं० द० ब्रह्मानन्दगत आत्मानन्द सर्वं

अर्थ–धन से पुत्र अधिक प्रिय है, क्योंकि पुत्र की प्राप्ति के लिए, पुत्र प्राप्त हो जाने पर पालन-पोषण करने के लिये तथा चोरी, जुआ आदि अपराधों में पकड़े जाने पर पुत्र को बचाने आदि के लिये पिता अपने धन को उसके लिये खर्च कर देता है, इस बात से यह सिद्ध होता है कि धन की अपेक्षा पुत्र अधिक प्रिय है। पुत्र से भी अधिक प्रिय अपनी देह होती है, क्योंकि अकाल आदि के संकट के समय मनुष्य अपने देह की रक्षा करने के लिये पुत्र को बेच कर धन प्राप्त करता है, इससे सिद्ध होता है कि पुत्र की अपेक्षा अपनी देह अधिक प्रिय होती है। अपने शरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ अधिक प्रिय होती हैं, क्योंकि जब कोई व्यक्ति मारने के लिये आता है, तो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को बचाने के लिये अपने शरीर में चोट लगने देता है, परन्तु इन्द्रियों की रक्षा करता है इससे सिद्ध होता है कि शरीर की अपेक्षा इन्द्रियां अधिक प्रिय होती हैं।

इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण अधिक प्रिय होता है, क्योंकि यदि कभी किसी को प्राण दण्ड दिया जाता है तो उस समय दण्ड पाने वाला व्यक्ति घबरा कर यह कहता है कि "मेरे हाथ पांव आदि इन्द्रियों को काट लो, परन्तु मेरे प्राण छोड़ दो" इससे सिद्ध होता है इन्द्रियों से अधिक प्राण प्रिय होते हैं। प्राणों से भी अधिक प्रिय अपना आत्मा होता है, क्योंकि जब मनुष्य अधिक दुखी होता है तथा किसी प्रकार का भारी कष्ट पाता है, उस समय यह कहता है कि "यदि मेरे प्राण निकल जांय तो मैं सुखी हो जाऊँगा" इससे सिद्ध होता है कि आत्मा प्राणों से भी अधिक प्रिय है।

इन सब बातों से यह भली भांति सिद्ध होता है कि आत्मा देह, इन्द्रिय तथा प्राणों से भी भिन्न परमानन्द स्वरूप है।

याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को बृहदारण्य उपनिषद के मैत्रेयी-ब्राह्मण में इसी प्रकार उपदेश किया है। उसमें उन्होंने कहा है कि स्त्री, पुत्र, धन, पशु, देवता, लोक इत्यादि में मनुष्य की जो प्रीति होती है, वह सब आत्मा के सुख के साधन के लिए ही है अन्यथा प्रतिकूल स्त्री-पुत्र आदि किसी को भी प्रिय क्यों नहीं लगते ? अतः अपना आत्मा ही सब से अधिक प्रिय है। स्त्री.पुत्र आदि वास्तव में प्रिय नहीं हैं। इससे विदित होता है कि आत्मा ही आनन्द रूप है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी जो आत्मा रहता. वह सत्य है।

हे शिष्य ! जो स्वप्न को जानता है, वह जगने पर स्वप्न का वृत्तान्त कह कर सुनाता है। इसलिये वह चैतन्य रूप है अर्थात् चित् है, और स्वप्न में भी अपना आत्मा सब से अधिक प्रिय रहता है, इसलिये आनन्द है।

इस प्रकार से सुषुप्ति अवस्था में कुछ प्रपंच नहीं है। इस प्रपंच के अभाव को जानने वाला तू आत्मा सुख रूप सच्चिदानन्द है, ऐसा सिद्ध होता है।

इस प्रकार से विचार करने पर स्थूल, सूक्ष्म .तथा कारण इन तीनों देह का तू दृष्टा है, जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का तू साक्षी है एवं अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँचों कोशों से तू भिन्न आत्मा सच्चिदानन्द रूप है, ऐसा सिद्ध होता हे।

हे शिष्य ! इस प्रकार ज्ञान का यथार्थ स्वरूप प्राप्त कर लेने पर तुझे मोक्ष मिलने में कोई सन्देह नहीं रहेगा।"

आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है इसके लिए ब्रह्मनामावलि का प्रमाण देते हैं––

श्लोक––

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुनः पुनः ।
स एव मुक्तः सो विद्वानीति वेदान्तडिंडिमः ।।

अर्थ–जिस प्रकार ऊपर निरूपण किया गया है उसी प्रकार तीन देह, तीन अवस्था, पंच कोश, भोक्ता तथा भोग्य आदि सम्पूर्ण विषयों का बारम्बार विवेचन करके जो मनुष्य यह निश्चय करके जान लेता है कि "मैं उनका दृष्टा साक्षी आत्मा हूँ"––वही मुक्त तथा वही विद्वान है। वेदान्त शास्त्र का नक्कारा यही है अर्थात् वेदान्त शास्त्र इस बात को ढिढोरा पीट कर स्पष्ट रूप से कहता है।

पहले तीन देह, तीन अवस्था तथा पंचकोश आदि का वर्णन करके बताया गया है कि इन देहादिकों का दृष्टा आत्मा है। इस प्रकार जो विशेष ज्ञान निरूपण किया गया है, वह वृत्तिजन्य होने से परिच्छिन्न तथा नाशवान है, इसलिये इस विशेष ज्ञान द्वारा अज्ञान को निवृत्त करके, अज्ञान के कार्य देहाध्यास को भी निवृत्त कर देना चाहिए। तत्पश्चात् इस विशेष ज्ञान को भी कल्पित समझ कर, वास्तविक, परिपूर्ण, सामान्य ज्ञान रूप ब्रह्मस्वरूप में उसे स्थित करके मोक्ष-सुख का अनुभव करना चाहिए। यही मोक्ष का साधन है। अतः इस विशेष ज्ञान को ही चौथी महाकारण देह से कल्पना करके, उसका निरूपण उन्नीसवीं चौपाई में सद्गुरु करते हैं––

चौपाई

चोथो महाकरण देह ज्ञान स्वरूप ।
तेनो तुम प्रकाशक शुद्ध स्वरूप ॥
तेहनां तत्त्व कहूँ सुजाण ।
ते तुं श्रवण कर विन कान ॥ १६ ॥

अर्थ = तीन देह की अपेक्षा चौथी देह महाकारण देह कहलाती है। अज्ञान एवं उसके कार्य रूप देहादिक प्रपंच की निवृत्ति का बड़ा कारण होने से इसका नाम 'महाकारण देह' हुआ। इस महाकारण देह का रूप ज्ञान है अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा वेदान्त शास्त्र के श्रवण से मैं दृष्टा साक्षी हूँ, ऐसा जो विशेष ज्ञान मन की वृत्ति में उत्पन्न होता है, उसी को चौथा महाकारण देह कहते हैं।

हे शिष्य ! तू इस महाकारण देह का भी दृष्टा साक्षी है। महाकारण देह का प्रकाशक आत्मा शुद्ध स्वरूप है अर्थात् निर्मल, सामान्य, नित्य एवं ज्ञान रूप है। यह विशेष ज्ञान जागृत अवस्था में ही रहता है, सुषुप्ति अवस्था में नहीं रहता, इसलिये वह अनित्य एवं परिच्छिन्न है। तू उस विशेष ज्ञान का प्रकाशक सामान्य रूप आत्मा अस्ति, भाति तथा प्रिय इन तीन रूपों से, इस आकाश के समान सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहता है। अतः इस सामान्य पूर्ण स्वरूप का अनुभव करना तथा वृत्तिजन्य विशेष ज्ञान को अज्ञान की निवृत्ति का साधन समझना चाहिये।"

शिष्य—"हे गुरु ! आपने यह कहा कि "सामान्य ज्ञान रूप आत्मा अस्ति, भाति और प्रियरूप से सम्पूर्ण जगत में व्यापक है" अतः आप मुझे यह बताने की कृपा कीजिये कि अस्ति, भाति और

प्रिय किसे कहते हैं तथा मैं उनके द्वारा सम्पूर्ण जगत में किस प्रकार व्यापक हूँ ?"

गुरु—"हे शिष्य ! भूत, भौतिक जितने भी पदार्थ हैं उन सब पदार्थों में १—अस्ति, २—भाति, ३—प्रिय, ४—नाम तथा ५—रूप, यह पाँच अंश प्रतीत होते हैं ।

अब मैं उन्हें स्पष्ट रीति से बोध कराने के लिये तुझे इन पांचों अंशों का अनुभव घट में बतलाता हूँ, उसे तू स्थिर चित्त होकर सुन तथा उसी को अनुभव कर ।

'घटोस्ति' अर्थात् घट है, जब ऐसा कहा जाता है तब घट में अस्तितता अर्थात् सत्ता का बोध होता है तथा जब यह कहा जाता है कि 'अयं घटोभाति' अर्थात् यह घट भासता है, तब यह कहने पर घट जाना जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'घटः प्रियोस्ति' अर्थात् घट प्रिय है, तब यह समझा जाता है कि घट में अपनी प्रियता अर्थात् प्रीति है। घट—यह एक नाम है। उसका मुँह तङ्ग तथा पैंदा बड़ा होता है। यह घट का रूप है। इस प्रकार से घट में अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप वर्तमान हैं, ठीक इसी भाँति इस सम्पूर्ण भूत, भौतिक जगत् में अस्ति, भाति आदि पांच अंश रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये । इनमें पहले अस्ति, भाति और प्रिय—ये तीन अंश ब्रह्म रूप हैं, बाकी जो नाम और रूप यह दो अंश रहे, सो यह दोनों अंश कल्पित जगत के स्वरूप हैं अर्थात् मिथ्या रूप हैं, ऐसा समझना चाहिये। अस्ति, भाति एवं प्रिय ये तीनों पहले अंश घट-पट आदि सभी पदार्थों में समान रूप से रहते हैं, परन्तु नाम और रूप यह दोनों अंश घट-पट आदि सभी पदार्थों में भिन्न-भिन्न अर्थात् अलग स्वरूपों से रहते हैं।

एक पदार्थ का नाम और स्वरूप दूसरे पदार्थ में नहीं होता। जिस प्रकार घट का नाम और रूप पट आदि दूसरे पदार्थ में नहीं है उसी प्रकार पट पदार्थ का नाम और रूप पट आदि अन्य पदार्थों में नहीं होता। इससे समझा जाता है कि नाम और रूप कल्पित हैं परन्तु अस्ति भाति एवं प्रिय–यह तीनों ही अंश सम्पूर्ण पदार्थों में समान रूप से वर्तमान रहते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है, जिसमें यह तीनों अंश नहीं हों। इसलिये अस्ति. भाति एवं प्रिय इन रूपों से ब्रह्म की सर्व व्यापकता सिद्ध होती है। जिस प्रकार देह में आत्मा का अनुभव सत् चित् एवं आनन्द इन तीन रूप से होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का अनुभव अस्ति भाति तथा प्रिय इन तीन रूपों से सिद्ध होता है। अस्ति से सत् भाति से चित् तथा पिय से आनन्द रूप ब्रह्म एवं आत्मा की एकता सिद्ध होती है। इस पकार यह सिद्ध होता है, कि तू सामान्य ज्ञान रूप आत्मा ब्रह्मस्वरूप है तथा इस ब्रह्मस्वरूप तेरे आत्मा के अज्ञान के कारण से जो कारण. नाम रूपात्मक जगत् भासता है, वह कल्पित एवं मिथ्या है, ऐसा जानना चाहिये।

शिष्य–"हे गुरुदेव! जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का विरोधी है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान का विरोधी है–इस न्याय के अनुसार जब मेरा स्वरूप ज्ञान रूप है तब 'मेरे ज्ञान स्वरूप विषयों में अज्ञान का निवास है' ऐसा नहीं हो सकता। आपने 'आत्मा के अज्ञान द्वारा ही नाम, रूपात्मक कल्पित जगत् भासता है' ऐसा कहा है, सो आप मुझे यह समझाने की कृपा कीजिए कि यह परस्पर विरोधी बात किस प्रकार सम्भव हो सकती है?"

गुरु–"हे शिष्य ! ज्ञान दो प्रकार का है—एक सामान्य ज्ञान और दूसरा विशेष ज्ञान । इनमें से सामान्य ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं है अपितु वह उल्टा अज्ञान का प्रकाशक है अर्थात् सामान्य ज्ञान ही अज्ञान को बतलाता है । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश काष्ठ, तृष्ण, सुई आदि संसार के सभी पदार्थों पर पड़ता है और यद्यपि सूर्य की धूप में सामान्य रूप से अग्नि रहती है, परन्तु वह किसी पदार्थ को जलाती नहीं है; अपितु उल्टी उन पदार्थों को स्पष्ट रूप से दिखा देती है और जब वही धूप सूर्य-कान्त मणि पर पड़ती है तो उससे अग्नि उत्पन्न होकर काष्ठ आदि सम्पूर्ण पदार्थों को जला देती है, उसी प्रकार सामान्य ज्ञान प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान होते हुए भी "मैं अज्ञानी हूँ, मैं स्वयं को नहीं जानता, मैं मनुष्य हूँ, मैं कर्त्ता भोक्ता अथवा सुखी-दुखी हूँ" आदि अज्ञान का और उसके कार्य भूत देहाध्यास आदि का विरोधी नहीं है । इसके विपरीत वह उल्टा अज्ञान और उसके कार्य को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है । यदि वह सामान्य ज्ञान, अज्ञान का विरोधी होता तो अज्ञान और उसके कार्य की प्रतीति कदापि नहीं होती । परन्तु उनकी प्रतीति होती है–इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि सामान्य ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं है । तू आत्मा सामान्य ज्ञान रूप ही है, परन्तु अज्ञान के कारण कल्पित नाम रूप ग्रहण करता है, इसीलिये तुझ में अज्ञानकृत कल्पित नाम रूप का आभास सम्भव है ।

ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा वेदान्त शास्त्र के उपदेश से जब ऐसा निश्चय होता है कि 'मैं सच्चिदानन्द रूप आत्मा ब्रह्म हूँ" तब बुद्धि में उत्पन्न हुए इस विशेष ज्ञान के द्वारा उसी समय "मैं

अज्ञानी हूं" इस प्रकार का अज्ञान तथा "मैं कर्त्ता भोक्ता, मनुष्य वर्णाश्रमी, अथवा सुखी दुखी हूँ" ऐसा मानने के विपरीत अध्यास तथा उसके कार्य इन दोनों की निवृत्ति हो जाती है।

दूसरा दृष्टान्त–यद्यपि काष्ठ में अग्नि सामान्य रूप से सदैव वर्तमान रहती है, परन्तु वह प्रत्यक्ष रूप से किसी के देखने में नहीं आती और लकड़ी की विरोधी भी नहीं होती अर्थात् लकड़ी को जलाती भी नहीं है; परन्तु जब किसी दूसरी लकड़ी को उस लकड़ी पर रख कर रगड़ा जाता है, तो लकड़ी में से विशेष अग्नि उत्पन्न होकर काष्ठ को जला देती है, इस न्याय के अनुसार सामान्य ज्ञान प्राणी मात्र में है, परन्तु वह ज्ञान किसी के अज्ञान की निवृत्ति नहीं करता। जब गुरु अथवा शास्त्र के उपदेश से उसमें विचार रूपी मन्थन होता है, तब "मैं स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप हूँ" ऐसा विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। उस समय अज्ञान और उसके कार्य देहाध्यास इन दोनों की निवृत्ति हो जाती है।"

शिष्य–"हे गुरु! सामान्य ज्ञान तथा विशेष ज्ञान ये दो प्रकार के ज्ञान मानने से द्वैत उत्पन्न होता है, और सिद्धान्त में "अद्वितीय ज्ञान रूप आत्मा एक ही है" ऐसा कहा गया है। ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी बात से एकता का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है सो आप इस सम्बन्ध में मेरा समाधान करने की कृपा करें?"

गुरु—"हे शिष्य! अद्वितीय सामान्य रूप आत्मा एक ही है, यह सत्य है। यह जो विशेष ज्ञान गुरु शास्त्रोंके उपदेश द्वारा वृत्ति-जन्य होता है, उससे अज्ञान और उसके कार्य देहाध्यास इन दोनों

का नाश हो जाता है । उस समय अज्ञान स्वयं भी निवृत्त होकर उस विशेष ज्ञान और सामान्य ज्ञान इन दोनों से भिन्न नहीं रहता इस प्रकार जिस द्वैत की बात तूने कही है, वह नहीं हो पाती और "सामान्य ज्ञान रूप पूर्ण आत्मा केवल एक ही है" ऐसा सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में मैं एक दृष्टान्त कहता हूँ–

वर्षा ऋतु में नदी का पानी मिट्टी आदि मिलने के कारण मलिन हो जाता है। तब उस जल को स्वच्छ करने के लिये 'कतक' अर्थात् निर्मली के फल का चूर्ण डालते हैं। उस चूर्ण से जल की मिट्टी आदि नीचे बैठ जाती है। तदुपरान्त वह चूर्ण भी धीरे-धीरे नीचे बैठ जाता है। इस प्रकार जल स्वच्छ हो जाता है। इस न्याय के अनुसार जब गुरु या शास्त्र के उपदेश द्वारा उत्पन्न हुआ विशेष ज्ञान अज्ञान का नाश करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है, तब सामान्य ज्ञान रूप सत्य आत्मा ही अवशिष्ट रहता है।

जिस प्रकार लकड़ी को रगड़ने से विशेष अग्नि प्रगट होती है और वह विशेष अग्नि रसोई आदि का कार्य सिद्ध करने के पश्चात्, उस लकड़ी को जला कर स्वयं भी लय हो जाती है, उसी प्रकार विशेष ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति करने का कार्य करने के उपरान्त, स्वयं भी सामान्य ज्ञान में विलीन हो जाता है। इस विवेचन के अनुसार ज्ञान में द्वैत उत्पन्न नहीं होता ऐसा सिद्ध होता है। अस्तु, इस भाँति विशेष ज्ञान रूप जो चौथा महाकारण देह है, उसका प्रकाशक, आत्मा शुद्ध स्वरूप है, ऐसा निश्चित होता है। अब उस महाकारण देह के तत्वों को मैं कहता हूँ। उसे तू बिना कान के (अर्थात् कान लगा कर) सुन।"

शिष्य–"हे गुरु ! बिना कान के कैसे सुना जा सकता है, यह आप मुझे बताने की कृपा कीजिये ?"

गुरु–"हे शिष्य ! सुन, जो बात समझे बिना, केवल कान से सुनली जाय, उसे नहीं सुनने के समान समझना चाहिये। जिस प्रकार महाकारण देह के तुरीयावस्था आदि आठ तत्वों का वर्णन किया है, उनका निरूपण यदि केवल कान से ही सुना जाय परन्तु मन लगा कर न सुना जाय तो उनका अनुभव कदापि नहीं हो सकना। अतः एकाग्र चित्त होकर विचार पूर्वक सुनना तथा अनुभव करना ही बिना कान के सुनना है। इसको इसी प्रकार समझना चाहिये। कान के बिना शब्द सुनना. नहीं जानना चाहिये।"

अब आगे बीसवीं चौपाई में सद्गुरु महाकारण देह के ८ तत्त्वों का वर्णन करते हैं –

॥ चौपाई ॥

तुर्या अवस्था मूर्द्धनिस्थान ।
परा वाचा आनंदावभास भोग जाण ॥
इच्छा शक्ति सुद्ध सत्त्वगुण मान,
अर्द्धमात्रा प्रत्यगात्मा अभिमान ॥ २० ॥

अर्थ–तुर्या अवस्था को चौथी अवस्था कहते हैं तू उसका प्रकाशक तुर्यातीत है।

शिष्य–"हे गुरु ! तुरीय तो शुद्ध आत्मा का नाम है और आप मुझे 'तुर्यातीत' कहते हैं तब शुद्ध आत्मा से भिन्न कौन है–यह बताने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! तुरीय जो शुद्ध आत्मा है, उसी को मैंने तुर्यातीत कहा है, क्योंकि जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति को जानने वाला एक राम आत्मा, इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है तथा इन

तीनों अवस्थाओं की अपेक्षा से तुरीय नामक चौथी अवस्था कही जाती है। यदि इन तीन अवस्थाओं का नाश होजाता तो तुरीय का नाम भी नहीं लिया जा सकता था। इसलिए तू तुर्यातीत है अर्थात् तुरीय, इस नाम से रहित है। तीनों अवस्थाओं की अपेक्षा से आत्मा को तुरीय नाम दिया गया है। 'तोटक वृत्तान्त' नामक वेदान्त ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है—

॥ श्लोक ॥

यदि जागरित प्रभृति त्रितयं, परि कल्पितमात्मनि मूढधिया।
अभिधानमिदं तदपेक्ष्य भवेत्, परमात्म पदस्य तुरीय मिति॥

अर्थ—जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं की मूढ़ बुद्धि मनुष्यों ने आत्मा में कल्पना की हैं। अर्थात् ये तीन अवस्था आत्मा की हैं, ऐसा माना है। इन तीन आत्माओं की अपेक्षा से ही परमात्म पद का 'तुरीय' नाम पड़ा है।

इसलिए इन तीन अवस्थाओं के बिना आत्मा का नाम तुरीय नहीं हो सकता। अतः उस तुरीय को ही तुर्यातीत कहा गया है अर्थात् तुरीय नाम से भी रहित है। परन्तु तुर्यातीत कहने से यह आशय नहीं है कि तुरीय से भिन्न कोई पाँचवाँ आत्मा है।

जिस प्रकार पुत्र उत्पन्न होने पर पुरुष का नाम पिता पड़ता है अर्थात् वह पिता कहलाता है और पुत्र के अभाव में पिता का नाम तो जाता रहता है, परन्तु पुरुष ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी प्रकार आत्मा तुर्यातीत है। इस तुर्यावस्था का मूर्धनिस्थान है। तुरीय आत्मा नख से शिखा पर्यन्त अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है—ऐसा कहने पर तो उसका अकेला मूर्धनिस्थान है,

ऐसा नहीं माना जा सकता। अस्तु यहां जो 'तुर्यावस्था मूर्धनिस्थान' ऐसा कहा गया है, उसका कारण यह है कि मूर्धनिस्थान सम्पूर्ण स्थानों से श्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम है, इसीलिए तुर्यावस्था को भी उच्च स्थान दिया गया है। केवल यही बात ध्यान में रखकर इस अवस्था का मूर्धनिस्थान है, ऐसा कहा गया है।

उस महाकारण देह की 'परा' (शब्दोच्चार की पहिली अवस्था) नामक वाचा है। गुरु तथा शास्त्र के द्वारा आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर ' "मैं कृतार्थ हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं जन्म-मरणादि के दुःख से निवृत्ति पा चुका हूँ" इस प्रकार कहते हुए देखकर जिसके द्वारा विशेष आनन्द का अनुभव होता है, उस महाकारण देह तथा महाकारण देह की इच्छा शक्ति को 'आनंदावभास भोग' कहते हैं।

ज्ञान प्राप्त होने पर निर्विकल्प सुख का अनुभव प्राप्त करने की जो इच्छा होती है, उसका नाम 'इच्छा शक्ति' है।

इस देह का सत्वगुण है। रजोगुण तथा तमोगुण से जिसका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है, ऐसा जो सत्त्वगुण है उसे शुद्ध सत्त्वगुण कहते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

इस अवस्था नें प्रणव की अर्द्ध मात्रा रहती है।

"मैं दृष्टा हूँ" ऐसा जो अभिमान होता है,उसे 'प्रत्यगात्माभिमान' कहते हैं। यह प्रत्यगात्माभिमान ही इस (महाकारण) देह में रहता है।

इस प्रकार तुरीयावस्थादि जो महाकारण देह के आठ तत्त्व कहे गये हैं, उनके विशेष ज्ञान रूप सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रकाशक तू सामान्य, पूर्ण, ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

॥ चौराई ॥

एवां सर्व मलीने ब्याशो तत्व कही ।
तुं एनो जाणनार स्वप्रकाश सही ॥
अहं ब्रह्मास्मि यह दृढ़ होई ।
एज साक्षात्कार कहीए सोई ॥ २१ ॥

टीका—उपर्युक्त स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण इन चार देह के सम्पूर्ण तत्त्वों को मिलाकर ब्यासी तत्त्व होते हैं। वे इस प्रकार हैं—स्थूल देह के तेतीस, सूक्ष्म देह के तेतीस, कारण देह के आठ तथा महाकारण देह के आठ। तू इन सब तत्त्वों को जानने वाला प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः हे शिष्य ! ऐसा विचार करके 'मैं उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म हूँ' ऐसा जो दृढ़ निश्चय होता है, उसी को साक्षात्कार अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है।

ज्ञान दो प्रकार का है। एक परोक्ष ज्ञान तथा दूसरा अपरोक्ष ज्ञान। इनमें अपरोक्ष ज्ञान को साक्षात्कार कहते हैं। इस सम्बन्ध में पंचदशी का प्रमाण है—

॥ श्लोक ॥

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्ष ज्ञान मेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥

अर्थ—ज्ञान दो प्रकार का है। १—परोक्ष ज्ञान तथा २—अपरोक्ष ज्ञान। "परब्रह्म सत्य रूप है" ऐसा मान कर, "ब्रह्म का रूप आत्मा से रूप से भिन्न है"—ऐसा जो ज्ञान जाना जाता है, उसे परोक्ष ज्ञान समझना चाहिए तथा 'वह निर्विकल्प ब्रह्म मैं हूँ"

इस प्रकार का अनुभव होने पर 'ब्रह्म तथा आत्मा में कोई भेद नहीं है, ये दोनों एक हैं'—ऐसा जो ज्ञान जाना जाता है, उसे अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं तथा उसी को साक्षात्कार कहा जाता है।

जिस प्रकार किसी ने यह कहा कि 'शक्कर मीठी है' तो दूसरा मनुष्य उसकी बात पर, शक्कर को मीठा जानकर, निश्चय करता है। यह जिस ज्ञान द्वारा जाना जाता है, उसे शक्कर का परोक्ष ज्ञान कहते हैं। इसके अतिरिक्त जब मनुष्य शक्कर को स्वयं खाकर उसका स्वाद जानता है अर्थात् शक्कर के सम्बन्ध में उसका स्वानुभव होता है, तो जिस अनुभव-जन्य ज्ञान द्वारा यह बात जानी जाती है, उस ज्ञान को शक्कर का अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

इसी प्रकार केवल शास्त्रों के उपदेश से 'परमात्मा सच्चिदानन्द हैं' ऐसा जो जाना जाता है, उसका नाम परोक्ष ज्ञान तथा गुरु शास्त्र की कृपा से विचार द्वारा 'सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसे अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अब आगे की बाईसवीं चौपाई में चार प्रकार की देह से भिन्न आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान के फल को गुरु कहते हैं—

॥ चौपाई ॥

एवा चार देह थी न्यारो होय।
तो हमणा मुक्ति सुख पामे सोय॥
सर्व व्यापक सहु थी न्यारो।
विवेक दृष्टि करी विचारो॥ २२॥

टीका—पूर्वोक्त निरूपण के अनुसार "स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण—इन चार देह से भिन्न तथा उनका प्रकाशक

शुद्ध, चैतन्य आत्मा मेरा स्वरूप है" ऐसे दृढ़ बोध द्वारा देहाध्यास का जब कोई त्याग कर देता है, तब वह इस शरीर में ही अविलम्ब मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।"

शिष्य-'हे गुरु महाराज ! केवल भेद दृष्टि ही दुःख का कारण है तथा उस दुःख की निवृत्ति वेद शास्त्रों में प्रतिपादित अभेदरूप आत्म ज्ञान के संयोग से होती है और मोक्ष भी उसी से होती है, ऐसा मैंने शास्त्रों में लिखा देखा है। इसके अतिरिक्त आपने यह निरूपण किया है कि आत्मा चार देह से भिन्न है, अर्थात् आत्मा से देह भिन्न है एवं देह से आत्मा भिन्न है। इसके अनुसार आत्मा से भूत भौतिक प्रपंच भिन्न हैं तथा उन प्रपंचों से आत्मा भिन्न है। इस प्रकार परस्पर भेदात्मक प्रतिपादन से द्वैत सिद्ध होता है, जिससे अद्वैत सिद्धान्त में विरोध उत्पन्न होता है। अतएव आप कृपा करके मेरे समाधान के हेतु इस प्रकार संक्षिप्त निरूपण कीजिए, जिससे एक वाक्यता (ऐक्य) सिद्ध हो।'

गुरु-'हे मेरे पुत्र ! जिस प्रकार ब्रह्म स्वरूप सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न चार देह तथा भूतभौतिक प्रपंच भी यदि सत्य सिद्ध हों, तब द्वैत उत्पन्न होता है, परन्तु वे देहादिक सभी प्रपंच सत्य न होकर ब्रह्म के स्थान में कल्पित हैं।

जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) में सर्प, भूछिद्र (दरार) मूत्र धार इत्यादि कल्पित होते हैं, परन्तु कल्पित सर्पादि का अस्तित्व रस्सी से भिन्न नहीं होता, जिस प्रकार सीप में कल्पित चाँदी इत्यादि की सत्ता सीप से भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार वस्त्रों की सत्ता तन्तु से भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार स्वर्णालङ्कारों की सत्ता स्वर्ण से भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार मिट्टी के घट आदि की

सत्ता मिट्टी से भिन्न नहीं होती, जिस प्रकार आकाश में कल्पित श्याम रङ्ग की सत्ता आकाश से भिन्न नहीं होती अथवा जिस प्रकार मरुभूमि में कल्पित मृग-जल की सत्ता मरुभूमि से भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार देहादिक सम्पूर्ण प्रपंचों की सत्ता आत्मा से भिन्न नहीं है।

आत्मा में जो कल्पित असद्रूप भासता है, उस असद्रूप के कारण देहादिक प्रपंचों से द्वैत नहीं होता। एक तथा अद्वितीय आत्मा सत्य है, इसलिए अद्वैत सिद्धान्त से किसी प्रकार का विरोध नहीं होता।

देहादि जगत् सम्पूर्ण असत्य है तथा केवल एक आत्मा ही सत्य है,-ऐसा श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन से भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार कहा है—

॥ श्लोक ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः ॥

गीता, अ० २, श्लोक १६

अर्थ—यह भूत भौतिक नाम रूपात्मक देहादि सम्पूर्ण जगत् जो असद्रूप है, उसका कोई भी सद्भाव (सच्चा अस्तित्व) नहीं है, अतः वह सर्वदा असद्रूप (मिथ्या किंवा कल्पित) है। एक अद्वितीय, अज, अजर, अमर, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, परिपूर्ण, निरवयव तथा निष्क्रिय-ऐसा जो सद्रूप आत्मा है उसका किसी भी काल में अभाव नहीं होता। यह सदा सर्वदा सद्रूप है। यह संसार असत्य तथा यह आत्मा सत्य रूप है। इन दोनों को

परमात्मतत्त्व से सत्य समझने वाले ज्ञानी पुरुषों ने ही अन्त पाया है (निर्णय किया है) अर्थात् सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है एवं आत्मा ही केवल सत्य है,–ऐसा निश्चय करना चाहिए।"

शिष्य–"हे महाराज! यदि यह जग असत्य है, तो इसे दिखाई नहीं देना चाहिए और उसके असत्य होने के कारण सुख-दुःख नहीं होना चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है अर्थात् यह जग दीखता है और इससे सुख-दुःख भी होते हैं। तब इसे असत्य किस प्रकार कह सकते हैं, यह समझाने की कृपा करें?"

गुरु–"हे शिष्य! सत्य ही देखने में आता है तथा सत्य से ही सुख-दुःख की प्राप्ति होती है,–ऐसा कोई नियम नहीं है। असत्य भी दीखता है तथा असत्य से भी सुख-दुःख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ स्वप्न असत्य होने पर भी दीखता है और उससे सुख-दुःख भी होता है। सीप में कल्पित चाँदी तथा रस्सी में कल्पित सर्प असत्य है, परन्तु वे दिखाई देते हैं एवं उनके द्वारा सुख-दुःख भी प्राप्त होते हैं। मृगजल तथा आकाश का नीलापन असत्य है, परन्तु यह दीखता है,–इसी प्रमाण से यह संसार असत्य होने पर भी दिखाई देता है। इसलिए 'सम्पूर्ण सत्य वस्तु ही दिखाई देती है अथवा जो दिखाई देता है, वह सब सत्य है' ऐसा सिद्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की माया द्वारा निर्मित कल्पित रूप अर्थात् असद्रूप जो यह भूत भौतिक जगत् दीखता है, वह वास्तव में दिखाई नहीं देता। उसकी निवृत्ति की भी हमें कोई आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि ईश्वर द्वारा निर्मित संसार किसी प्रकार का बन्धन नहीं देता। अपितु ईश्वर निर्मित इस संसार में, जीव के मन में सत्यबुद्धि द्वारा निर्मित जो द्वैत है, वही

बन्धन का कारण बन जाता है। इसलिए उसकी निवृत्ति अवश्य करनी चाहिए।"

शिष्य—"हे गुरु ! ईश्वर द्वारा निर्मित संसार देहादिरूपों में प्रत्यक्ष दिखाई देता है, परन्तु उन जीवों द्वारा निर्मित द्वैत, जिससे बन्धन होता है और जिसे आपने बताया है, वह क्या वस्तु है, यह समझाने की कृपा करें ?"

गुरु—"हे शिष्य ! ईश्वर द्वारा निर्मित देह, स्त्री, पुत्र, धन आदि में जिस अहंता-ममता रूप दृढ़ अध्यास को जीवन ने निर्मित किया है, वही बन्धन तथा दुःख का कारण है। यह देह स्वयं किसीको बन्धन में नहीं करती। परन्तु इसमें अहंता-ममता रूप जो जीवसृष्टि है, वही बन्धन का कारण है।

ईश्वर द्वारा उत्पन्न की हुई एक माँसमयी स्त्री में यदि कोई ममत्व न हो तो उसके मर जाने पर किसी को दुःख नहीं हो सकता। परन्तु "अमुक स्त्री मेरी माँ है, यह मेरी पुत्री है, यह पत्नी है, यह मेरी बहिन है" इत्यादि विभिन्न प्रकार के ममत्व भिन्न-भिन्न जीवों में स्वनिर्मित भरे हुए हैं। इसीलिए उस मनोमयी के नष्ट होने पर सब अलग-अलग जीवों को दुःख होता है।

जैसे किसी एक गृहस्थ का पुत्र कहीं बहुत दूर परदेश में गया, तो उसके जीवित रहने तक कोई मसखरा मनुष्य यदि उस गृहस्थ के पास आकर यह कहे कि "अरे, परदेश में गया हुआ तुम्हारा पुत्र मर गया" तो उस समय वह पिता अपने पुत्र की मृत्यु जान कर असह्य दुःख से रोने लगता है। परन्तु जब तक कोई उससे आकर यह नहीं कहता कि "तुम्हारा पुत्र परदेश में मर गया है" तब तक उस गृहस्थ को कुछ भी दुःख नहीं होता। इसके

विपरीत यदि वह पुत्र सचमुच ही मर गया हो, परन्तु कोई आकर यह कहदे 'तुम्हारा पुत्र कुशल से है' तो इस मिथ्या समाचार को पाकर भी मन ही मन प्रसन्न होता है तथा जब तक कोई आकर यह नहीं कहता कि "तुम्हारा पुत्र अमुक स्थान में मृत्यु को प्राप्त हो गया है" तब तक उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

इस प्रकार देखो कि प्रथम अवस्था में ईश्वर द्वारा उत्पन्न किया हुआ पुत्र परदेश में जीवित है तो भी उस मनोमय पुत्र को मृत्यु के समाचार से अत्यन्त दुःखी होता है तथा दूसरी अवस्था में ईश्वर द्वारा उत्पन्न किया हुआ पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो गया है, तो भी अपने मन में उसे जीवित जानकर दुःखी नहीं होता।

अतः हे शिष्य ! द्वैत जितना भी है, वह सब मन द्वारा रचा हुआ है, तभी यह बन्धन का कारण होता है। इसलिए आत्म ज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति करनी चाहिए।"

शिष्य—"हे गुरु ! जब मन द्वारा उत्पन्न किया हुआ द्वैत बन्धन का कारण है, तब उस मानस द्वैत की निवृत्ति तो मनो-निरोध रूप योग से ही हो सकता है अर्थात् उसके लिए योगाभ्यास करना चाहिए, आत्म ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? अब कृपा कर मेरे इस सन्देह की निवृत्ति करें।"

गुरु—"हे शिष्य ! ज्ञान के बिना केवल योगाभ्यास से द्वैत की निवृत्ति अवश्य होती है, परन्तु वह केवल उतने ही समय के लिए होती है अर्थात् योगाभ्यासमें जितनी देर तक मन एकत्र रहता है, उतनी ही देर तक द्वैत की प्रतीति नहीं होती, परन्तु जिससे पुर्नजन्म टल जाय, इस प्रकार के द्वैत की पूर्ण निवृत्ति आत्मज्ञान के अतिरिक्त केवल योगाभ्यास द्वारा नहीं हो सकती। ज्ञान के

बिना जन्म-मरणादि दुःखों से निवृत्ति नहीं होती–ऐसा नियम श्रुति ने बनाया है। उसी श्रुति ने यह नियम किया है कि–

"ज्ञान से ही केवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।"

"ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।"

इसी प्रकार श्वेताश्वर उपनिषद् में इस प्रकार कहा है कि–

"जिस प्रकार मनुष्य सम्पूर्ण आकाश को चर्म के समान लपेट कर, अर्थात् जिस प्रकार हरिण के चमड़े को हाथों द्वारा लपेटा जाता है, उस प्रकार आकाश की सम्पूर्ण पोल को जब मनुष्य लपेट लेगा, तब देव (स्वयं प्रकाश आत्मा) का जाने बिना उस का दुःख नष्ट हो जायेगा।"

ऐसा लिखने का अभिप्राय यह है कि जिस भाँति आकाश को किसी प्रकार नहीं लपेटा जा सकता, उसी प्रकार आत्म ज्ञान के बिना, केवल योगाभ्यास से जन्मादि दुःखों का कारण जो मनोमय द्वैत है, उसकी पूर्ण निवृत्ति कभी नहीं हो सकती है।"

शिष्य–"हे गुरु ! जो बाहर दिखाई देता है, उस ईश्वर सृष्टि रूप का निवारण किए विना जब अद्वैत आत्मा का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, तब वह ज्ञान मानस द्वैत को किस प्रकार निवृत्ति कर सकेगा, यह आप बतावें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! असद्रुप बहिर्द्वैत को निवारण किए बिना, केवल गुरु शास्त्रों के उपदेश से 'वह द्वैत मिथ्या रूप है' ऐसा केवल जान लेने पर ही अद्वैतरूप आत्म ज्ञान का नाश होता है।"

शिष्य–"हे गुरु ! "वहिर्द्वैत मिथ्यारूप है"–ऐसा जानने से ही अद्वैत का ज्ञान नहीं होता, अपितु द्वैत के निवारण से ही

अर्थात् बहिद्वैंत (जगत्) के लोप होने से ही अद्वैत ज्ञान होता है –इसके बिना नहीं हो सकता, तो क्या इसलिए वाह्यद्वैत का निवारण करना ही चाहिए ?"

गुरु–"हे शिष्य ! वाह्यद्वैंत के निवारण से हीं यदि अद्वैत ज्ञान होता है तो सुषुप्ति अवस्था में अथवा प्रलय काल में बिना प्रयत्न किए ही समस्त प्राणियों की वाह्यद्वैत से निवृत्ति अपने आप हो जाती है, अस्तु उन्हें उस समय अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो जाना चाहिए।' परन्तु उस समय ज्ञान के साधन रूप गुरु शास्त्र आदि के अभाव से उन्हें अद्वैत ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, और ज्ञान न होने के कारण अत्यतिक दुःख की निवृत्ति होकर, मोक्ष भी नहीं हो सकती है। इसलिए जब द्वैंत न दिखाई दे, तब अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया, ऐसा कहना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त ईश्वर द्वारा निर्मित वाह्यद्वैत जो दिखाई देता है, वह अद्वैत ज्ञान म किसी प्रकार का बाधक नहीं है। इतना ही नहीं, वह शास्त्रादि द्वारा अद्वैत ज्ञान को प्राप्ति में बहुत सहायता भी पहुँचाता है तथा उसे मिथ्या जानने के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से इसकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती है।

इसलिए हे शिष्य ! तू ईश्वर कृत द्वैत (जगत्) के पोछे पड़ कर, उससे द्वेष क्यों करता है ? जीव निर्मित जो द्वैत बन्धन का कारण है, तू केवल उसी को निवृत्त करने का प्रयत्न कर।"

शिष्य–"हे गुरु ! आपने पहिले संक्षेप में जीवकृत द्वैत को जितना बताया है, वह उतना ही है अथवा कुछ और भी है ? यदि

कुछ और भी है तो वह कितने प्रकार का है,-यह आप मुझे बताने की कृपा करें ;"

गुरु-"हे शिष्य ! विद्यारण्य मुनि ने जीवकृत द्वैत दो प्रकार का है-ऐसा कहा है। १-शास्त्रीय द्वैत तथा २-अशास्त्रीय द्वैत। प्रत्यक् ब्रह्म के एकत्व का जो विचार वेदान्त शास्त्र के श्रवण मनन करने का है: उसे शास्त्रीय मनोमय द्वैत कहते है। जब तक सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप प्रत्यगात्म का अपरोक्ष बोध दृश्य नहीं हो, तब तक मनुष्य शास्त्रीय द्वैत का त्याग नहीं करे। कामादिक से पूर्ण निवृत्ति होकर, अद्वैत तत्त्व का दृढ़ बोध प्राप्त करने के पश्चात् ही उसका त्याग करना चाहिए।

श्रुति में कहा है-

सदसद्विचार में कुशल बुद्धिमान पुरुष वह है जो वेदान्त शास्त्र का अभ्यास करके, उसके द्वारा परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान में निष्णात होने के उपरान्त धान में से निकाले गये चावल के दाने के समान तत्त्व को ग्रहण करके, धान के भूसे के समान सम्पूर्ण शास्त्रीय द्वैत का त्याग करता है।

यद्यपि श्रुति में शास्त्र विचार की अवधि बतलाई गई है, परन्तु बोध प्राप्त करने के पश्चात् सद् शास्त्र के विचार का त्याग करदे, ऐसा निषेध नहीं किया गया है। इसलिए दृढ़ बोध प्राप्त करने के पश्चात् पूर्व प्रवाह से प्राप्त हुए शास्त्र विचारादिक शास्त्रीय द्वैत कल्पित हैं—ऐसा जान कर, उसके द्वारा सद्विचार में कालक्षेप करने से किसी प्रकार को हानि नहीं होती है।"

शिष्य-"हे गुरु महाराज ! जब आप शास्त्र विचारादिक को कल्पित कहते हैं, तब उनसे सांसारिक बन्धन की निवृत्ति किस प्रकार होगी यह मुझे समझाने की कृपा करें ?"

गुरु—'हेशिष्य! जिसकी निवृत्ति करनी है, वह संसार भी सत्य कहाँ है ? "जैसा यक्ष वैसा बलिदान'—इस न्याय के अनुसार, जिस प्रकार स्वप्न कल्पिसिंह के दर्शन में कल्पित स्वप्न की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार कल्पित शास्त्रादिकों में कल्पित संसार की निवृत्ति भी हो सकती है !

इसी प्रकार अशास्त्रीय द्वैत दो प्रकार का होता है। १—तीव्र, २—मन्द। इन दोनों में काम, क्रोधादि को तीव्र द्वैत कहते हैं तथा मनोराज्य को मन्दद्वैत कहते हैं। अद्वैत तत्त्व का बोध होनें से पहिले ही इन दोनों का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि तत्त्व-बोध होने के लिए जो चार साधन बताये गये हैं, उनमें से किसी भी साधन को साध्य करने पर धीरे-धीरे यह दोनों, अर्थात् काम क्रोधादि का त्याग तथा मनोराज्य का त्याग—ये दोनों ही अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

वे चारों साधन कौन से हैं उन्हें इस पुस्तक के प्रारम्भ में एक प्रसंग में बताया जा चुका है। उन्हीं को अब एक बार फिर बताते हैं। उनमें—

पहिला साधन [विवेक] है (आत्मा सत्य है तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब असत्य है—इसे विवेक कहते हैं)।

दूसरा साधन [वैराग्य] है (इहलोक तथा परलोक में भोग भोगने सम्बन्धी अनिच्छा तथा अप्रीति को वैराग्य कहते हैं)।

तीसरा साधन [षट् सम्पत्ति] है अर्थात्—

१—शम (वासना का त्याग)
२—दम (वाह्यइन्द्रियों का निग्रह)
३—उपरति (प्रपंच से निवृत्ति)
४—तितिक्षा (शीत, ऊष्ण आदि द्वन्द धर्म सहन करने की योग्यता)

५–श्रद्धा (ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु तथा वेदान्त शास्त्र के वाक्यों में भक्ति)
६–समाधान (चित्त की एकाग्रता)

चौथा साधन 'मोक्षेच्छा' है (मैं जीव संसार के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ––ऐसी इच्छा को मोक्षेच्छा कहते हैं) ।

आत्मज्ञान के इन चार साधनों में तीसरा साधन जो षट् सम्पत्ति कहा गया है उनमें 'शम' जो पहिली सम्पत्ति है के संयोग से काम क्रोध आदि का त्याग करना चाहिये । उसके करने से वासना का त्याग हो जाता है ऐसा कहा गया है ।

छटवीं सम्पत्ति समाधान द्वारा मनोराज्य का त्याग करने पर चित्त में एकाग्रता होती है ऐसा कहा गया है। इसलिये पहिली साधनावस्था में काम क्रोध आदि का त्याग करके जीव में बोध सम्पादन करना चाहिये ।"

शिष्य–"हे गुरु ! बोध प्राप्त करने के लिये बोध होने से पूर्व काम आदि अशास्त्रीय द्वैत का त्याग करने के सम्बन्ध में जो आपने कहा है वह ठीक है; परंतु तत्त्व बोध प्राप्त करने के पश्चात् यदि उन्हें ग्रहण कर लिया जाय तो उसमें क्या हानि है ? यह जो शङ्का उत्पन्न हुई है उसका समाधान क्या है––यह आप कहें ?"

गुरु–"हे शिष्य! बोध प्राप्त होने के पश्चात् भी जीवन्मुक्तता सिद्ध करने के लिए काम क्रोधादि का त्याग करना उचित है। क्योंकि कामक्रोधादि रूप क्लेश से जो बँधा हुआ है, उसे जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं होती, यही सबसे बड़ी हानि है ।"

शिष्य–"हे गुरुदेव ! जिस संसार में जन्म-मरणादि दुःख हैं उस संसार से मैं अत्यन्त क्षुब्ध हूँ । इसलिए जिसमें जन्मादि दुःख नहीं हैं उस मोक्ष सुख स्वरूप विदेह मुक्ति को जब मैं प्राप्त करूँगा तब उसके मिलने मात्र से मैं कृतार्थ हो जाऊँगा । इसलिए जब तक

इस लोक में मैं जीवित हूँ तब तक मुझे जीवन्मुक्ति की आवश्यकता नहीं है ।"

गुरु–"हे शिष्य ! काम क्रोधादि के त्याग में जीवन्मुक्ति का संपादन होता है । अस्तु यदि तू इन्द्र लोक के भोग में पड़कर उस जीवन्मुक्ति को त्याग देगा तो स्वर्ग सुख की कामना में पड़कर विदेह मुक्ति को भी त्याग देगा । उस स्थिति में तुझे मोक्ष के स्थान पर केवल स्वर्ग का सुख ही प्राप्त होगा और जन्मादि के दुःख से रहित विदेह मुक्ति तुझे प्राप्त नहीं होगी ।"

शिष्य–"हे गुरु ! स्वर्ग के सभी भोग नाशवान तथा सातिशय (दोष पूर्ण) हैं । इसलिए उनका भोग समाप्त होने पर जीव का स्वर्ग से अधः पात हो जाता है । ऐसे अनेक दोष से भरे हुए स्वर्ग का त्याग मैं अवश्य करूँगा । मुझे स्वर्ग की आवश्यकता नहीं है ।"

गुरु–"हे शिष्य ! जब स्वर्ग में क्षय तथा सातिशय दोष हैं और इसलिए तू स्वर्ग का त्याग करने को प्रस्तुत है,तब तू स्वभावतः अनेक दोषों से परिपूर्ण धर्मादि सम्पूर्ण पुरुषार्थों का नाश करने वाले तथा अत्यन्त दुःख देने वाले काम क्रोधादि का त्याग करने के लिए तय्यार क्यों नहीं है ?"

शिष्य–"हे गुरु ! वैराग्यादि साधनों के योग से विलक्षण अनर्थों के कारणभूत अतिकामादिक हैं, मैं उनसे बँधा हुआ नहीं हूँ । इस प्रकार जब मैं उनसे पृथक् हूँ तब इस लोक में भोग मात्र के लिए उपयोगी जो कामादिक हैं, उन्हें ग्रहण करने में क्या दोष है, यह आप मुझे बतावें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! आत्म तत्त्व जानने के बाद भी जब तू विशेष (सम्पूर्ण) काम-क्रोध का त्याग नहीं कर सकता तथा

कामादि के वश होकर 'मैं तत्त्व वेत्ता हूँ, सम्पूर्ण विधि निषेध शास्त्रों के उपदेश मुझे नहीं लगते' ऐसा अभिमान से बोलता है एवं धर्मशास्त्र का तथा उनके द्वारा कहे गये पुण्य कर्मों का त्याग करता है तब तेरी वृत्ति यथेच्छाचर (शास्त्रों में वर्णित वर्णाश्रम की मर्यादा को त्याग कर स्वेच्छा पूर्वक कार्य करने) की होगी।

कदाचित् तू यह कहेगा कि 'यथेच्छाचरण की प्रवृत्ति से मेरी क्या हानि है ?' परन्तु ऐसी प्रवृत्ति होना बिल्कुल उचित नहीं है।

नैष्कर्म्य सिद्धि नामक ग्रन्थ में श्री सुरेश्वराचार्य ने इसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया है (उसका सारांश यह है कि यदि कोई पुरुष अद्वैत परमात्म तत्त्व को जानने के बाद यथेच्छाचरण में प्रवृत्त होता है तो उसके कारण अभक्ष्य को भक्षण करना आदि कर्मों में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है एवं श्वान तथा तत्त्वज्ञानी इन दोनों नें समान व्यवहार रखने पर उसे श्वान की समता मिलती है तथा ज्ञान पर धूल पड़ जाती है। इसलिए तत्वज्ञानी पुरुष का यथेच्छाचारी होना संभव नहीं है। क्योंकि, पूर्वजन्म के किये हुए अधर्माचरण के प्रभाव से ही इस जन्म में अधर्म में रुचि होकर यथेच्छाचरण में प्रवृत्ति होती है। जो व्यक्ति तत्त्वज्ञानी होता है, उसके पूर्वजन्म के कर्म ऐसे पापमय नहीं होते; क्योंकि अनेक जन्मों में किए हुए अनन्त यज्ञ-दानादि पुण्य कर्मों से जिसके सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति होकर, अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसीको तत्त्वज्ञान होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है—ऐसा श्रीकृष्ण जी ने भगवद्गीता में कहा है। श्रुति न भी कहा है कि यज्ञ करके अन्न दान तथा धन दान करके मन तथा इन्द्रियों के निग्रह जप तप करके किंवा कृच्छ्र

चान्द्रायणादि रूप तय करके ब्राह्मण को आत्यतत्त्व जानने की इच्छा होती है। अतः अनेक पुण्य कर्मों के फल से तत्त्व ज्ञान प्राप्त जीव की प्रवृत्ति यथेच्छाचरण में नहीं होती।

जैसे कोई पुरुष भूख से अत्यन्त व्याकुल होकर भोजन करने के लिए बैठा हो, उसी समय उससे कोई यह कह दे कि 'तुम्हारे सामने जो भोजन रक्खा हुआ है, उसमें विष मिला है'--तो वह अत्यन्त भूखा होने पर भी उस अन्न को कभी नहीं खायेगा। तब जो मनुष्य मिष्ठान्न खाकर तृप्त हो चुका हो, वह भला विषमय अन्न को खाने में क्यों प्रवृत्त होगा ?

इसी प्रकार जब मुमुक्षु अवस्था में पुरुष की शास्त्रानुसार अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मों में प्रवृत्ति होती है, तब भी वह यथेच्छाचरण से निवृत्त होता है। ऐसी दशा में जिसने अपने अनन्त पुण्य कर्मों के अनुष्ठान द्वारा, ईश्वर की कृपा से संसार के सम्पूर्ण भोगों से विरक्त होकर, आत्म ज्ञान को प्राप्त किया है और वह उस ज्ञान द्वारा सब भाँति तृप्त हो चुका है, तब उसकी प्रवृत्ति यथेच्छाचरण में क्यों होगी ? अर्थात् वह कभा भी यथेच्छारा नहीं होगा।

हे मुमुक्षु ! तू तत्त्व ज्ञानी है अर्थात् जिस ज्ञान को प्राप्त कर सनकादिक तथा शुकादिक महात्मा उत्तम पदवी को प्राप्त हुए है, उसी ज्ञानी को तूने प्राप्त किया है, इस लिए तू पशुओं में अधम पशु शूकर की भाँति अधम बनने की इच्छा मत कर तथा बन्धन को देने वाले तीव्र मनोमय द्वैत से भरे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जो दोष हैं, उन सब को दोष दृष्टि करके त्याग दे।

इसी प्रकार सम्पूर्ण अनर्थों का मूल जो मनोमय द्वैत तथा उसके रूप मनोराज्य (मन द्वारा उत्पन्न किए हुए अनेक प्रकार

के विषयों के संकल्प) को त्याग दे तथा सच्चिदानन्द, परिपूर्ण परमात्मा में अभेद स्थिति रूप जीवन्मुक्ति के सुख का सम्पादन कर।

मनोमय द्वैत रूप काम क्रोधादिक आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण है, इसलिए उसका त्याग कर देना चाहिए—ऐसा श्री कृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन से कहा है--

नर्क के तीन द्वार

श्लोक—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

गीता अ० १६ श्लोक २१

अर्थ—श्वान, शूकर आदि नीच योनि रूप नरक में जाने के काम, क्रोध, तथा लोभ—ये तीन द्वार हैं। ये काम क्रोधादिक मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होने वाले मुमुक्षु पुरुष के मोक्ष रूप पुरुषार्थ का नाश कर देते हैं। अतः विवेक पूर्वक आत्म विचार के शास्त्र द्वारा इन तीनों का नाश कर देना चाहिये अर्थात् तीनों को त्याग देना चाहिये।

काम क्रोधादि की निवृत्ति के बिना जीवनमुक्ति का सुख प्राप्त नहीं होता। अतः हे शिष्य ! इनकी निवृत्ति करके, कल्पित देहादिक प्रपंच से भिन्न अद्वितीय आत्मा का, गुरुशास्त्र के उपदेश से जो अनुभव होगा, उससे विस्मृत कण्ठाभरण की प्राप्ति के समान 'मैं देह से भिन्न हूँ" ऐसा समझने में विलम्ब नहीं लगेगा। तभी तुझे मोक्ष सुख प्राप्त होगा।"

इस प्रकार चौपाई के पूर्वार्द्ध में, कल्पित रूप सम्पूर्ण देहादि प्रपंच से भिन्न अद्वितीत आत्म विषय के ज्ञान द्वारा मोक्षरूप आत्म सुख की प्राप्ति इसी देह में होती है—ऐसा निरूपण किया गया। अब आगे चौपाई के उत्तरार्द्ध में सद्गुरु 'सम्पूर्ण जगत में अधिष्ठान रूप से आत्मा व्यापक है तथा वह कल्पित जगत् से भिन्न है' ऐसा निरूपण करते हैं—

'सर्व व्यापक सहुथी न्यारो' इति ।

हे शिष्य ! वह आत्मा सर्व व्याप्त है ऐसा कहा गया है। अस्ति, भाति तथा प्रिय इन तीन रूपों से वह नाम रूपात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहता है, ऐसा समझना चाहिये। वह किस प्रकार व्याप्त है ? इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि जिस प्रकार आभूषणों में स्वर्ण व्याप्त रहता है, उसी प्रकार वह भी है। इसके अतिरिक्त वह 'सहुथी न्यारो' अर्थात् सबसे भिन्न है, अर्थात् सम्पूर्ण कल्पित ब्रह्माण्ड से प्रथक् है। वह भिन्न किस प्रकार है ? इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि जिस प्रकार कल्पित सर्प से रस्सी भिन्न होती है, उसी प्रकार वह भी है।

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों देह में दृष्टा रूप से, जागृत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में साक्षी रूप से तथा अन्नमय आदि पंच कोशों में प्रकाश रूप से, वह सच्चिदानन्द रूप आत्मा व्यापक है एवं वही आत्मा सद्रूप देहादि, तीन अवस्था तथा पंचकोश—इन सबसे भिन्न है । 'विवेक दृष्टि करी विचारो' अर्थात् विवेक दृष्टि से यह अनुभव करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि आत्मा एक, अद्वितीय, सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन भेदों से रहित है, ऐसा अनुभव करे।"

इस प्रकार गुरुजी ने जो विचार युक्त अनुभव कहा। उनमें जितनी भी बातें थीं, उन सब पर अलग-अलग मनन तथा निदिध्यासन करने पर शिष्य ने स्वरूप के साक्षात्कार का अनुभव किया। उस अपने अनुभव को शिष्य तीन दोहों में स्पष्ट करता है। उनमें भी पहिले दोहे में चार देह तथा तीन अवस्थाओं से आत्मा का रूप भिन्न है, ऐसा कहता है—

शिष्य अनुभव वर्णन

दोहा–हूँ स्थूल सूक्ष्म कारण नहीं, नहीं महा कारण रूप ।
नहीं जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति, हुँ पोते शुद्ध स्वरूप ॥ २३ ॥

टीका—–स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण–ये जो देहत्रय हैं, वह मैं नहीं हूँ, उसी प्रकार विशेष ज्ञानस्वरूप जो महाकारण देह है, वह भी मैं नहीं हूँ । जागृत स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्था भी मेरी आत्मा की नहीं हैं, क्योंकि वे बुद्धि की हैं ।

इसी प्रकार भागवत् में सप्त स्कन्ध के सातवें अध्याय में प्रहलाद ने भी कहा है—–

॥ श्लोक ॥

बुद्धिर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।
ता येन वाऽनुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥

भागवत स्कंध पु० ७, अ० ७

अर्थ–जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्था बुद्धि की हैं । ये तीन अवस्था जिस से जानी जाती हैं, वह इन तीन अवस्थाओं का साक्षी तथा इन अवस्थाओं से भिन्न सच्चिदानन्द रूप उत्तम पुरुष है ।

इसलिए तीन अवस्थाओं का प्रकाशक मैं स्वतः केवल शुद्ध, निर्मल, स्वयं प्रकाश, सामान्य रूप हूँ ।

अब आगे दो दोहों में शिष्य निष्प्रपंच रूप निर्विकल्प आत्मा के अनुभव का वर्णन करता है ।

दोहा–तुर्या साक्षी तो कोय कहे, जो साक्ष्य पदारथ होय ।
उपाधि रहित स्वरूप हुँ, नहीं साक्ष्य साक्षी दोय ॥२४॥

टीका—–यदि साक्ष्य (जो साक्षी से जाना जाता है), जो

जाग्रत् आदि वृत्ति तथा स्थूल सूक्ष्म देहादि पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, सत्य हो तो तुरीय तथा साक्षी ये दोनों विशेषण आत्मा से सम्बद्ध होंगे, परन्तु जब जाग्रत् आदि अवस्था तथा स्थूल पदार्थ परमार्थिक दृष्टि से सत्य न हों, तब आत्मा से तुरीय तथा साक्षी, ये दोनों विशेषण किसी प्रकार कैसे लगते हैं ?

एक ही पुरुष के भिन्न-भिन्न आत्म सम्बन्धों के कारण, भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। अर्थात् वह भानजे के सम्बन्ध से मामा, भतीजे के सम्बन्ध से चाचा, दामाद के सम्बन्ध से श्वसुर तथा पुत्र के सम्बन्ध से पिता आदि नामों को प्राप्त होता है, परन्तु यदि उक्त सम्बन्ध न हों तो उसके मामा, चाचा आदि नामों का लोप होजाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये सभी नाम कल्पित हैं, परन्तु इनके मूल में जो पुरुष है, वह सत्य है।

इस न्याय से तुरीय, साक्षी आदि विशेषण भी मेरे स्वरूप में उपाधि की अपेक्षा से प्राप्त हुए हैं, वास्तव में ये सत्य नहीं हैं और मैं उन जाग्रत् आदि उपाधि से रहित अर्थात् निरुपाधि स्वरूप हूँ। इसलिए मेरे शुद्ध स्वरूप के साक्ष्य तथा साक्षी ये दोनों ही नाम नहीं हैं।

दोहा—हुँ विश्व तैजस प्राज्ञ नहिं, नहिं तुर्या मुजमांय।
नहिं द्रष्टा साक्षी नहिं, केवल शुद्ध हुँ भाय ॥२५॥

टीका—जाग्रत् का अभिमानी विश्व, स्वप्न का अभिमानी तैजस तथा सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ—ये तीनों मैं नहीं हूँ और तुर्यावस्था यह नाम तथा उसका दृष्टा, साक्षी यह नाम भी मुझमें वास्तविक नहीं हैं। क्योंकि दृश्य तथा साक्ष्य की अपेक्षा से ही दृष्टा तथा साक्षी नाम पड़ते हैं, परन्तु जब दृश्य तथा साक्ष्य पदार्थ ही

न होंगे तब किसे दृष्टा और किसे साक्षी कहा जायेगा ? अतः जब दृश्य और साक्ष्य पदार्थ पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं हैं, तब उनके नाम भी यथार्थ नहीं हैं। जिस-जिस स्थान में दृष्टा तथा साक्षी का वर्णन किया गया है, वहाँ केवल दृश्यादिक की अपेक्षा से ही कहा गया है। वास्तविक विचार करने पर अनुभव होता है कि मैं केवल निष्प्रपंच, स्वयंप्रकाश, स्वतःसिद्ध, निरुपाधिक, शुद्ध रूप, मन तथा वाणी से अगोचर हूँ—ऐसा सिद्ध होता है।"

इस प्रकार शिष्य द्वारा वर्णित अनुभव को सुनकर उसे दृढ़ करने के हेतु मन तथा वाणी से अगोचर जो निष्प्रपंच अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप है, उसे सद्गुरु आगे लिखे दोनों दोहों में निरूपण करते हैं—

अद्वैत ब्रह्म का वर्णन

दोहा—ज्यां नहि पिंड ब्रह्मांड नहि, नहि एक त्यां दोय।
प्रकृति पुरुष ज्यां नहि, स्वयं प्रकाश सत सोय ॥२६॥

टीका—'ज्यां नहि पिंड' अर्थात् जहाँ (जहाँ अद्वैत स्वरूप का) शरीर का सम्बन्ध नहीं है, उसी के अनुसार ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध नहीं है, 'त्यां' अर्थात् उस अद्वैत स्वरूप में एक दो अधिक की गणना भी नहीं है और पुरुष अर्थात् अविद्योपाधि से युक्त जीव ये दोनों भी नहीं हैं। इस प्रकार से आत्मा का स्वरूप स्वयं प्रकाश, सत्य तथा अद्वितीय है, ऐसा जानना चाहिए।

दोहा—वृत्तिव्याप्ति फलव्याप्ति विना, जेमनुं तेम स्वरूप।
सदा उदित स्वप्रकाश छे, मन वाणी बिन रूप ॥२७॥

टीका—वह आत्म स्वरूप वृत्ति व्याप्ति तथा फलव्याप्ति

इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों से रहित 'जेमनु तेम' अर्थात् जैसा है, वैसा ही स्वाभाविक स्वरूप है।

शिष्य–"हे गुरु ! वृत्ति, व्याप्ति तथा फल व्याप्ति किसे कहते हैं, यह बताने की कृपा कीजिए ?"

गुरु–"हे शिष्य ! अन्तःकरण की वृत्ति घटादि पदार्थों में व्याप्त होकर, उन्हीं पदार्थों के आकार में स्फुरण को प्राप्त होती है। इस स्फुरण प्राप्त करने को ही 'वृत्तिव्याप्ति' कहते हैं एवं पदार्थों में चिदाभास की जो व्याप्ति होती है अर्थात् 'यह घट है' ऐसा जो ज्ञान हाता है, उसे 'फलव्याप्ति' कहते हैं।

अज्ञान से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा का जो विशेष ज्ञान है, उसकी उत्पत्ति के लिए केवल वृत्तिव्याप्ति की अपेक्षा होती है, फलव्याप्ति की नहीं ।

जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप सूर्य को देखने के लिए केवल निरोगी नेत्रों की अपेक्षा होती है, अन्य दीपक आदि की अपेक्षा नहीं होती; परन्तु घट-पट आदि जो वाह्य पदार्थ हैं उन्हें देखने के लिए वृत्तिव्याप्ति तथा फलव्याप्ति इन दोनों की अपेक्षा होती है । जिस प्रकार कि अँधेरे में रक्खे हुए घट को देखने के लिए नेत्र तथा दीपक इन दोनों की अपेक्षा होती है। क्योंकि अंधकार में अकेले नेत्रों से ही घट दिखाई नहीं दे सकता।

इसी प्रकार चिदाभास बिना केवल जड़ अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा जड़ पदार्थ देखना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि एक तो वृत्ति ही जड़ है, दूसरे जिस पदार्थ को देखना है वह भी जड़ है अर्थात् जड़ द्वारा जड़ को नहीं देखा जा सकता। इसलिए उस जड़ पदार्थ को जानने के लिए फलव्याप्ति की अपेक्षा है ।

परन्तु अज्ञान की निवृत्ति करने के हेतु जो आत्मज्ञान का अनुभव है, उसे उसकी (फल व्याप्ति की) अपेक्षा नहीं है। उसे (अज्ञान को निवृत्ति को) तो केवल वृत्तिव्याप्ति की ही अपेक्षा है।

शिष्य–"हे गुरुदेव ! जिस वृत्ति के योग से आत्मा जाना जाता है, वह वृत्ति दृष्टा हुई तथा आत्मा उस वृत्ति का दृश्य हुआ। ऐसी स्थिति में श्रुति जो यह कहती है कि आत्मा मन तथा वाणी से अगोचर है, वह अप्रमाण ठहरेगा। अतः आप समाधान पूर्वक इस सम्बन्ध में ऐकवाक्यता का निरूपण करने की कृपा कीजिए ?"

गुरु–"हे शिष्य ! मन आत्मा को दृश्य पदार्थ मानकर स्वयं को देखने का विचार नहीं करता है, अपितु मन द्वारा विचार करके अविद्या तथा देहाध्यास को निवृत्त करते हुए आत्मा अपने स्वरूप का प्रकाश स्वयं ही करता है।

जिस प्रकार मनुष्य दर्पण द्वारा अपने मुख को स्वयं ही देखता है परन्तु दर्पण उसे नहीं देखता, अर्थात् दर्पण मुख के देखने का केवल साधन मात्र है, उसे देखने के बाद मनुष्य दर्पण को रख देता है, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष मन की वृत्ति के विचार द्वारा अज्ञान की निवृत्ति करके स्वयं प्रकाश आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् उस वृत्ति को त्याग देता है। इसलिए वृत्तिव्याप्ति तथा फल व्याप्ति से रहित आत्मा का जैसा स्वाभाविक स्वरूप है, वैसा ही वर्णन किया है। अस्तु, वह आत्म-स्वरूप सदैव उदीयमान तथा स्वयंप्रकाश है।"

स्वयंप्रकाश का वर्णन

शिष्य–"हे कृपानिधे ! स्वयं प्रकाश किसे कहते हैं,यह आप

स्पष्ट रूप से बताने की कृपा करें, जिससे मेरे ध्यान में आ सके।"

गुरु–"हे शिष्य ! घट-पट आदि संसार के जितने पदार्थ हैं, वे सूर्य, दीपक आदि के प्रकाश से देखे जाते हैं अर्थात् वे पदार्थ पर-प्रकाश्य हैं ऐसा समझना चाहिए। जो वस्तु स्वतः प्रकाश्य रूप है, तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करती है और जिसे प्रकाशित करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसी वस्तु को स्वयंप्रकाश कहते हैं। ऐसा स्वयंप्रकाश एक आत्मा है, उसके अतिरिक्त जो नाम रूपात्मक भूतभौतिक प्रपंच हैं, वे सब परप्रकाश्य हैं। यद्यपि सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजली, अग्नि आदि पदार्थ स्वतः प्रकाशमय हैं तथा दूसरे पदार्थों को प्रकाश देने वाले हैं, तो भी वे आत्मा को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हैं। इतना ही नहीं, इसके विपरीत आत्मा के प्रकाश द्वारा ही वे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रकाशमय दिखाई देते हैं। अर्थात् वे सब जड़ तथा पर प्रकाश्य हैं और आत्मा स्वयं प्रकाश है, ऐसा जानना चाहिए।

स्वप्नावस्था में भी उन सूर्य चन्द्रादिकों में से कोई भी प्रकाश रूप नहीं है, परन्तु आत्मा स्वतः स्वयं प्रकाश है। उससे अन्तःकरण का परिणाम जो स्वप्न प्रपंच है वह सब दिखाई देता है। ऐसा अनुभव मनुष्य मात्र को है।

वृहदारण्यकोपनिषद में याज्ञवल्क्य मुनि ने भी सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि का निराकरण करते हुए राजा जनक को इस प्रकार उपदेश किया है कि आत्मा स्वयं ज्योति, स्वयं प्रकाश है। भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में श्री कृष्णजी ने भी इसी प्रकार कहा है—

श्लोक—

ज्योतिषामपि तज्जोतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्यधिष्ठितम् ॥

गीता अ० १३ श्लोक १७

अर्थ—जो जानने योग्य है, उस परमात्मा का स्वरूप सूर्य चन्द्र आदि ज्योतियों को प्रकाशित करने वाला स्वयं ज्योति रूप तथा स्वयं प्रकाश है। वह स्वरूप अमानित्वादि साधनों के योग से आत्मज्ञान से जाना जाता है तथा वह स्वरूप प्राणी मात्र के हृदय में बुद्धि, बुद्धि के धर्म तथा उसकी अवस्था का प्रकाश करने वाले के रूप में रहता है।

इस प्रकार "आत्मा स्वयं प्रकाश है"—ऐसा निश्चय अनुभव तथा श्रुतिस्मृति के प्रमाण से होता है।

"मन वाणी बिन रूप" अर्थात् मन आदि चार अन्तःकरण तथा वाणी आदि दस इन्द्रियों से रहित आत्मा का स्वरूप है, किंवा आत्मा की मन तथा वाणी में प्रवृत्ति नहीं होती है। 'मन वाणी बिन रूप' का अर्थ यही है।

शिष्य—"हे गुरु ! आत्मा की मन तथा वाणी में प्रवृत्ति नहीं होती, इसका कारण क्या है ?"

गुरु—"हे शिष्य ! जाति, क्रिया, गुण, नाम, रूप आदि शब्द प्रवृत्ति के कारणों का जिन वस्तुओं से सम्बन्ध होता है, उन वस्तुओं में वाणी की प्रवृत्ति होती है। आत्मा असंग, अगुण तथा अक्रिय है अर्थात् जाति, गुण, क्रिया आदि के सम्बन्ध से उसका नाश नहीं होता। इसलिए उसमें वाणी, इत्यादि की प्रवृत्ति नहीं

हो, सकती । इसीलिए "मनवाणी बिन रूप" ऐसा आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया हैं ।"

इस प्रकार गुरु ने आत्मा के निष्प्रपंच स्वरूप का वर्णन दो दोहों में किया । अब महावाक्य के अर्थ का निरूपण करने के हेतु गुरु एक दोहे में लक्ष्य स्वरूप में तद्रूपता स्थिति करने की रीति कहते हैं-

अद्वैतस्वरूप में तद्रूपता का वर्णन

दोहा-एम अभेद लक्ष्य जाणी करी,
रहिये सुख स्वरूप ।
निरन्तर महदाकाशवत,
पोते स्वयं स्वरूप ॥ २९ ॥

टीका-'एम' अर्थात् पूर्वोक्त कथनानुसार मन तथा वाणी से अगोचर तथा अभेद लक्ष्य (जीव तथा ईश्वर अभेद रहित लक्ष्यार्थ रूप आत्मा) को अनुभव से जानकर, 'रहित सुख स्वरूप' अर्थात् अद्वैत सुखस्वरूप में तद्रूपता की स्थिति करके रहना चाहिए । जिस प्रकार महदाकाश निरन्तर भेद रहित, असंग तथा सर्व व्यापक है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप जीव ईश्वरादि भेद रहित, व्यापक, स्वयं प्रकाश, तथा असंग है । अतः हे शिष्य ! अपने को निर्विकल्प, असंग तथा सुखरूप ब्रह्म मान कर दृढ़ निश्चय करना चाहिए ।

तत्वमसि

शिष्य-"हे गुरु देव ! आप जीव तथा ईश्वर इन दोनों को एक बताते हैं परन्तु उनका विरोध प्रत्यक्ष देखने में आता है;

क्योंकि जीव सुखी, दुखी, कर्ता, भोक्ता, जन्म-मरण युक्त, असमर्थ, पराधीन, अभिमानी तथा अल्पज्ञ है और ईश्वर इसके विपरीत अर्थात् अहंकार रहित, सुख-दुख रहित, समर्थ, स्वतन्त्र, संसार की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कर्त्ता तथा सर्वज्ञ है। तब इन दोनों में ऐक्य किस प्रकार हो सकता है ? आप इनके ऐक्य के विषय में प्रमाण सहित समझाने की कृपा करें !"

गुरु—"हे शिष्य ! तत्पद ईश्वर एवं त्वंपद जीव—इन दोनों पदों का जो वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ है, उसे न समझने के कारण ही तुझे यह शङ्का उत्पन्न हुई है। वह इसलिये कि—जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुख आदि संसार की प्रीति जो होती है, वह केवल अविद्या कल्पित अन्तःकरणादि उपाधियों के अध्यासन से होती है। जीव का वास्तविक स्वरूप शुद्ध सच्चिदानन्द है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म अन्तःकरण के हैं तथा जन्म-मरण देह के धर्म हैं। लक्ष्यरूप आत्मा में, इनमें से कोई भी नहीं होता।

इसी प्रकार ईश्वर में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय यह कर्तृत्व केवल माया उपाधि के योग से ही होते हैं। ईश्वर का वास्तविक स्वरूप शुद्ध, अद्वितीय, पूर्ण, सच्चिदानन्दरूप, लक्ष्य है। इसलिए उपाधि के भेद का विचार किए बिना वाच्यार्थ में जीव ईश्वर का भेद प्रतीत होता है, परन्तु दोनों का लक्ष्यार्थ मनमें जान लेने पर अनुभव द्वारा वह अभेद प्रतीत होता है।

सामवेद केछान्दोग्य उपनिषद के महावाक्य द्वारा भी ऐसा अभेद निरूपण किया गया है। वह महावाक्य इस अभेद विषय में प्रमाण है—ऐसा जानना चाहिए। उस महावाक्य मैं 'तत' 'त्वं' तथा

'असि' ये तीन पद हैं। उससे अभेद दृष्टान्त देने के हेतु उन्तीसवें दोहे में जो कहा गया है,उसे सुनकर, अपने मन में दृढ़ निश्चय कर।"

दोहा–तत्त्व मठ घटाकाशवत्, असि पद महदाकाश।
वे उपाधि त्याग करी, पोते स्वयं प्रकाश ॥२६॥

टीका–"हे शिष्य ! जिस प्रकार एक ही आकाश मठ की उपाधि से मठाकाश कहलाता है तथा घट की उपाधि से घटाकाश कहा जाता है; परन्तु मठ तथा घट इन दोनों उपाधियों से रहित जो आकाश है, उसे महदाकाश कहते हैं, उसी प्रकार एक अर्थात् अद्वितीय तत्त्व माया की उपाधि से 'तत्' पद अर्थात् 'ईश्वर' कहलाता है एवं अविद्या की उपाधि से 'त्वं' पद अर्थात् 'जीव' कहलाता है। ऐसा होने पर भी इन दोनों उपाधि को त्याग कर, लक्ष्य में 'वह तू है' इस प्रमाण से 'असि' पद में, दोनों (तत् तथा त्वं) में ऐक्य जानकर, एक अद्वितीय स्वरूप सिद्ध होता है। ईश्वर का ठिकाना समर्थपन तथा जीव का ठिकाना असमर्थपन है, इसी प्रकार से बड़ी तथा छोटी उपाधि भी योग मात्र से होती है, परन्तु वह मूलस्वरूप की उपाधि नहीं है।

मठ में बहुत से मनुष्य बैठ सकते हैं तथा उसमें सहस्रों मन अन्न भी भरा जा सकता है, परन्तु घट में एक भी आदमी नहीं बैठ सकता है और न एक मन अन्न ही भरा जा सकता है। यद्यपि मठ तथा घट में बड़ी तथा छोटी उपाधि के कारण, उनमें बड़प्पन तथा छुटपन भासता है, परन्तु उनके भीतर के आकाश में बड़प्पन, छुटपन अथवा सामर्थ्य एवं असामर्थ्य का कोई भेद नहीं होता। घट तथा मठ दोनों में ही भेद रहित महदाकाश एक ही है। इसी प्रकार

तत् पद तथा त्वं पद का लक्ष्यार्थ रूप शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म एक ही है, उसमें भेद नहीं है।

इस प्रकार जीव तथा ईश्वर के वाच्यार्थ रूप में कल्पित जो दोनों उपाधि (अविद्या तथा माया) हैं, उनका भाग त्याग लक्षणा से त्याग कर देना चाहिए। हे मुमुक्षु पुरुष ! तू स्वत: (प्रत्यगात्मा) जीव ईश्वर का शुद्ध लक्ष्य स्वयंप्रकाश रूप है–ऐसा अपने मन में जानकर गाँठ बाँध ले।

तीन प्रकार के लक्षण

शिष्य–"हे गुरु ! भागत्याग लक्षणा किसे कहते हैं तथा जिसे लक्षणा कहते हैं, वह कितने प्रकार की होती है ?"

गुरु–"हे शिष्य ! १. जहती, २. अजहती तथा ३. जहद-जहती। ये तीन प्रकार की लक्षणा हैं। जिसमें सम्पूर्ण अर्थ का त्याग हो उसे 'जहती लक्षणा' कहते हैं। उदाहरणार्थ–'गंगायां घोष: प्रतिवसति' यह वाक्य है। इस वाक्य का शब्दार्थ यह है कि गंगा में गायों का बँधान है। इस अर्थ से समझ पड़ता है कि गंगा में अर्थात् गंगा नदी के प्रवाह में गायों का रहना संभव नहीं है, अस्तु इस गंगा पद का यह अर्थ त्याग कर, ऐसा अर्थ लगाया जाता है कि गंगा के तट पर गायें बँधती हैं। इस प्रकार से यहाँ जहती लक्षणा लगाई जाती है, परन्तु यह लक्षणा महावाक्य के सम्बन्ध में नहीं लगती, क्योंकि इस लक्षणा के लगाने से महावाक्य के समस्त व्याच्य अर्थ का त्याग होजायेगा, जिससे महावाक्य में जानने योग्य शुद्ध चैतन्य का भी त्याग करना होगा। इस महा अनर्थ के कारण तथा सिद्धान्त से पद के वाच्यार्थ रूप एक अंश को छोड़कर, लक्ष्यार्थ रूप

एक अंश को ग्रहण करने के हेतु, इस जहती लक्षणा को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार दूसरी अजहती लक्षणा में उसके सम्पूर्ण अर्थ को ग्रहण किया जाता है, किसी भी अर्थ का त्याग नहीं होता। उदाहरणार्थ–'शोणो धावति' अर्थात् लाल दौड़ता है। यहाँ लाल दौड़ता है, कहने से लाल गुण का अर्थ दौड़ना होता है, परन्तु गुण का दौड़ना संभव नहीं है, अतः इसका अर्थ यहाँ यह हुआ कि जिसका लाल रंग है, ऐसा घोड़ा दौड़ता है। इसमें लाल गुण वाले सर्प के साथ घोड़ा का ग्रहण ऊपर से किया जाता है। इस दृष्टान्त में निरूपित अजहती लक्षणा भी महावाक्य में नहीं लग सकती, क्योंकि इसमें पद के वाच्यार्थ तथा उसके सम्बन्धी किसी अन्य अर्थ का भी ग्रहण होता है। परन्तु महावाक्य में 'तत् त्वं' के वाच्यार्थ को त्याग कर केवल लक्ष्यार्थ को ही ग्रहण करना योग्य होता है। इसलिए महावाक्य में जहदजहती लक्षणा अर्थात् भाग त्याग लक्षणा को ही ग्रहण किया जा सकता है।

भाग त्याग लक्षणा का स्पष्टीकरण

भाग त्याग लक्षणा के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित उदाहरण देते हैं--

'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् 'वह देवदत्त यह है।' अब इस उदाहरण के अर्थ को स्पष्ट समझाने के लिए इतिहास की रीति से समझाते हैं, ध्यान से सुन---

तत्त्वमसि वाक्य का स्पष्टार्थ

किसी गाँव का रहने वाला शिवदत्त नामक एक मनुष्य काशी की यात्रा के लिए गया। वहाँ संयोग वश किसी प्रसंग में

उसकी मित्रता काशिराज (काशी के राजा) के साथ होगई। तब वह बहुत दिनों तक वहीं रहने के बाद अपने गाँव को लौटा। इस बात को बहुत वर्ष बीत जाने पर, पूर्वजन्म के संस्कारों से काशिराज वैराग्य युक्त हो, सम्पूर्ण राज्य को त्याग, सन्यासी का वेष धारण कर, तीर्थाटन करते हुए शिवदत्त के ग्राम में जा पहुँचे तथा वहाँ कर्म धर्म के संयोग से एक देव मन्दिर में जा ठहरे। नित्य के नियम की भाँति जब शिवदत्त उस मन्दिर में दर्शन करने के लिए गया, तब उसकी दृष्टि काशी से आये हुए विरक्त राजा पर जा पड़ी। उस सयय वह अपने मन में यह विचार करने लगा कि कई वर्ष पूर्व मैंने जिस राजा को काशी में देखा था, वहीं इस समय यहाँ बैठा हुआ है। परन्तु उसी समय उसके मन में यह संशय हुआ कि यह व्यक्ति काशी का राजा कैसे हो सकता हे ? क्योंकि वह राजा तो महासमर्थ, आज्ञा देने वाला, सत्ताधीश, अपराधियों को दण्ड तथा योग्य मनुष्यों को जागीर, धन इत्यादि देने वाला तथा स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त काशी के समान पवित्र देश का निवासी है और यह जो व्यक्ति दिखाई दे रहा है इसमें उस राजा के एक भी लक्षण नहीं हैं। इसके विपरीत यह इस समय यहाँ वाह्यरूप से एकदम असमर्थ, पराधीन, भिक्षुक के समान दिखाई दे रहा है। अतः यह मनुष्य काशी का राजा है, यह बात कैसे मान ली जाय ?' इस प्रकार उसे बहुत भ्रान्ति हुई, परन्तु तो भी वह राजा की ओर बार-बार देखने लगा। जब उसे देखते-देखते उस विरक्त के शरीर में काशिराज के सभी लक्षण दिखाई पड़े, तब उसके मन में कुछ-कुछ यह विश्वास हुआ कि हो न हो यह काशिराज ही हैं।

तदुपरान्त उस विरक्त पुरुष से वार्तालाप करने एवं गाँव

के अन्य लोगों के मुख से राजा के वैराग्य धारण करने की चर्चा सुनकर शिवदत्त को यह निश्चय हुआ कि जिन काशिराज को मैंने काशी में देखा था, ये वेही हैं।

इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि उस काशी प्रदेश, राजा की उस समृद्धि, उस सामर्थ्य तथा उस काल आदि उपाधियों से संयुक्त राजा की तथा इस देश, इस असमृद्धि, इस असमर्थता तथा इस काल आदि की उपाधि से संयुक्त भिक्षुक से यदि तुलना की जाय तो 'यह वही राजा है' ऐसा ऐक्य करने का प्रयत्न सिद्ध होना सम्भव नहीं है। इसलिए उस काशी प्रदेश तथा राज्य-समृद्धि आदि सम्पूर्ण बातों को त्याग कर 'यह मनुष्य वही पहिले का काशिराज है''—इस विचार से केवल शरीर मात्र की तुलना करके शिवदत्त ने राजा को पहिचाना तथा उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ा।

इसी प्रकार महाकाव्य 'तत् त्वं असि' (वह तू है) में तीन पद हैं। इसमें तत् पद वाच्य जो ईश्वर है उसकी सामर्थ्य सर्वज्ञता, परोक्षता, जगत्कर्तृत्व आदि वाच्यार्थ रूप उपाधियों को त्याग कर उसी प्रकार त्वंपदवाच्य जो जीव है उसकी असमर्थता, अल्पज्ञता, परिछन्नता आदि आचार्थ रूप उपाधियों का भी त्याग कर, तत् पद का लक्ष्य अद्वितीय, पूर्णानन्द, सर्वात्मा तथा त्वंपद के लक्ष्य कूटस्थ, साक्षी, असंग, सच्चिदानन्द, इन दोनों की एकता 'असि' पद द्वारा करने से किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। परन्तु वाच्यार्थ उपाधि को लेने से ही एकता करने के प्रयत्न में बाधा पड़ जाती है। अतः उस वाच्यार्थ को छोड़ कर, लक्ष्यार्थ्य से ब्रह्म तथा आत्मा के अभेद को समझना चाहिये। महावाक्य भी इसी लक्ष्यार्थ में एकता का निरूपण कर रहा है।

दूसरा दृष्टान्त

जिस प्रकार ओखली में धान कूट कर, उसके भूसे को त्याग कर, उसके सार रूप चावल को ग्रहण कर लेते हैं और उससे क्षुधा की शान्ति होती है। इसके विपरीत यदि कोई ऐसा न करके भूसे तथा कण को न त्याग कर, सम्पूर्ण धान को हा फेंक दे तो उससे क्षुधा को शान्ति कदापि नहीं हो सकती, उसी प्रकार यदि धान को भूसा तथा कण सहित खाया जाय, तो न तो उसे खाना ही हो सकता है और न क्षुधा की शान्ति ही हो सकती है। अस्तु, जिस प्रकार कण तथा भूसे को अलग करके धान के सार रूप चावल लेने से ही क्षुधा की निवृत्ति रूप सुख की प्राप्ति होती है, इसो प्रकार महावाक्य के तत् तथा त्वं पद अर्थात् ईश्वर एवं जीव में से भागत्याग लक्षणाद्वारा, उपाधिरूप वाच्यार्थ को त्याग कर एक लाक्ष्यार्थ को ग्रहण करने से ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।"

शिष्य–"हे महाराज ! तत् पद ईश्वर तथा त्वं पद जीव में, वाच्यरूप उपाधि क्या है तथा लक्ष्यरूप किसे कहते हैं, यह आप विस्तार पूर्वक समझाने की कृपा कीजिए ?"

गुरु–'हे शिष्य !—

दोहा–तत् उपाधि माया कहि, त्वंपद अविद्या जान ।
वे उपाधि दृश्य त्याग करी, पोते शुद्ध भगवान ॥३०॥

टीका–तत् पद ईश्वर को वाच्य उपाधि माया है, ऐसा जानना चाहिए तथा विराट्, हिरण्य गर्भ, तथा अव्याकृत, ये ईश्वर की तीन देह माया रूप हैं। वैश्वानर, सूत्रात्मा तथा ईश्वर की देह, ये तीनों तत् पद वाच्यार्थ के अभिमानी हैं तथा उत्पत्ति,

स्थिति एवं प्रलय, ये तीनों उसकी अवस्था हैं। ये सभी माया की उपाधि तत् पद के वाच्यार्थ हैं, ऐसा जानना चाहिए।

त्वं पद जीव की अविद्या उपाधि है, ऐसा जानना चाहिए। यह अविद्या स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीन देह रूप परिणाम को प्राप्त हुआ है। इन तीन देह के विश्व, तैजस् तथा प्राज्ञ, ये अनुक्रम अभिमानी हैं। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये त्वं पद वाच्य जीव की तीन अवस्था हैं। इन सब को मिला कर अविद्या कल्पित त्वं पद जीव का वाच्यार्थ प्रस्तुत हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार माया तथा अविद्या, जो इस वाच्यार्थ रूप जीव की उपाधि दृश्य हैं, उनका त्याग करने से तू स्वयं आत्मा, तत् पद तथा त्वं पद—इन दोनों ही पदों का जो लक्ष्यार्थ रूप है, वह शुद्ध भगवान् शेष रहता है। इसलिए उपाधि रहित, सच्चिदानन्द, ब्रह्मरूप तू है।

श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में यह कहा है—

॥ श्लोक ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

भगवान् अर्जुन के प्रति उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार, तू स्वयं ही क्षेत्रज्ञ है, इसका निरूपण करते हुए कहते हैं—'हे अर्जुन! सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीरों) में देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की जानने वाले क्षेत्रज्ञ (शुद्ध जीव) में 'तेरा स्वयं का स्वरूप है', ऐसा जान।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत् में चौथे स्कन्ध के अट्ठाईसवें अध्याय में, पुरंजनोपाख्यान के अन्तर्गत, जीवात्मा तथा ईश्वर में ऐक्य-सम्बन्ध के ज्ञान को दृढ करने के हेतु भगवानने जीवात्मा तथा अपने (ईश्वर के) बीच ऐक्य निरूपण करने के लिए इस प्रकार उपदेश किया ---है

॥ श्लोक ॥

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्वभो ।
न. नौ पश्यंति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥

श्रीमद्भगवत्, खंड ४, अ०२८, श्लोक०६२ ॥

अर्थ–हे जीव ! जो मैं हूँ, वही तू है। तू मुझ से भिन्न नहीं है। अथवा जो तू है वही मैं हूँ। इस प्रमाण से मुझमें तथा तुझमें ऐक्य है, ऐसा विचार करके देखना चाहिए। जो पुरुष ज्ञानी हैं वे हम दोनों में रंचमात्र भी भेद नहीं मानते। इसलिए हम–जीव तथा ईश्वर दोनों ही एक रूप हैं, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में प्रत्यगात्मा का परमात्मा से ऐसा ही अभेद निरूपण किया गया है। अतः हे शिष्य तू अपने आत्मा को ब्रह्मस्वरूप समझ।"

शिष्य---"हे गुरु ! मैंने शास्त्र में यह सुना है कि ब्रह्म जन्म, मरण, क्षुधा, पिपासा, शोक तथा मोह इन छ प्रकार की ऊर्मियाँ (तरंगों) से रहित है, परन्तु मुझमें ये छहो प्रकार की ऊर्मियों प्रत्यक्ष देख पड़ती है, तब भला, मैं ब्रह्मरूप किस प्रकार हो सकता हूँ–यह बताने की कृपा करें ?"

गुरु–"हे शिष्य ! तूने जो शास्त्र में यह सुना है कि ब्रह्म छैः प्रकार की ऊर्मियों से रहित है, यह सत्य है। वही छः प्रकार की

ऊर्मियों से रहित ब्रह्म तेरा प्रत्यगात्मा है। उस प्रत्तगात्मा को देह, प्राण तथा मनसे भिन्न न जानकर, देहादिक के धर्मों में अपने आत्माका आरोपण करके, तूने स्वयं को जन्म मरणादि वाला मान रक्खा है। वास्तव में तेरी आत्मामें उनका स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में मैं तुझे अधिक विवेचन करके सुनाता हूँ, तू सुन---

॥ दोहा ॥

जन्म मरण देहने कही, क्षुधा पिपासा प्राण ।
शोक मोह मननोधर्म, पोते ब्रह्म प्रमाग ॥ ३१ ॥

टीका---'हे शिष्य ! जन्म और मरण ये दोनों ऊर्मियाँ स्थूल देह में है, ऐसा समझना चाहिए, अर्थात् स्थूल देह ही जन्म लेता है और मरता है। परन्तु तू इसका द्रष्टा आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है।

क्षुधा तथा पिपासा ये दोनों ऊर्मियाँ प्राणों की हैं, क्योंकि क्षुधा तथा पिपासा से प्राण अत्यन्त व्याकुल होते हैं एवं अन्न-जल के बिना प्राण नहीं रह सकते। परन्तु तू प्राणों का द्रष्टा है अर्थात् वह क्षुधा पिपासा तुझ में नहीं है।

शोक तथा मोह ये दोनों ऊर्मियाँ मन की हैं। क्योंकि जब मन जाग्रत् अथवा स्वप्नावस्था में रहता है। तब उसमें शोक तथा मोह की ऊर्मियाँ उत्पन्न होती हैं। सुषुप्ति अवस्था में जब मन का लय हो जाता है, तब शोक तथा मोह की ऊर्मियां दिखाई नहीं देतीं, क्योंकि वे मन में ही उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार वे ऊर्मियाँ भी तेरी नहीं है। तू तो शोक-मोह रहित है।

इस प्रकार पोते ब्रह्म प्रमाण' अर्थात् तू स्वयं ही इन छ

प्रकार की ऊर्मियों से रहित आत्मा ब्रह्मरूप है। ऐसा श्रुतिके प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

यजुर्वेद के वृहदाण्य को पनिषद् में याज्ञवल्क्य मुनि से 'कहोल' नामक ब्राह्मण ने जो प्रश्न किया है वह इस प्रकार है—'हे याज्ञवाल्क्य जो ! साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप जो सर्वान्तियामी आत्मा है, उसे आप मुझे बतलाइये?" इस पर याज्ञवल्क्य मुनि ने उत्तर दिया—'यह अपरोक्ष (अन्तः करण को वृत्तियों का प्रकशिक) तेरा आत्मा ही सर्वान्तिर्यामी है।" तब कहोल ने फिर प्रश्न किया—"हे महाराज ! सर्वान्तर आत्मा कोन?" याज्ञवल्क्य ने उसे उत्तर दिया—"क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु इन छहों ऊर्मियों से रहित जो सर्वान्तिर्यामी आत्मा है, वह तू है।"

हे शिष्य ! इस प्रकार तू आत्मा ब्रह्मरूप है, शुद्ध है तथा कर्मों के फल जो सुख तथा दुःख है—उनका भोक्ता नहीं है। इसलिए तू जीवन्मुक्त (जोवन से मुक्त) है।"

कर्म के तीन प्रकार

शिष्य—"हे महाराज ! कर्म के कितने प्रकार है ? कर्म का भोक्ता कौन है ? कर्मों की पूर्ण निवृत्ति कब होती हैं तथा जीवन्मुक्त किसे कहते हैं ? इतने प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करें।,

गुरु—"हे शिष्य ! कर्म तोन प्रकार के होते हैं—१—संचित, २—क्रियमाण तथा ३—प्रारब्ध।

अनेक जन्मों के किए हुए जो पुण्य—पाप आदि कर्म भोगने से बच्च जाते हैं, वे संस्कार रूप से अज्ञान सहित सूक्ष्म शरीर में रहते हैं, उन्हें संचितकर्म' कहा जाता है।

इस वर्तमान शरीर द्वारा जो नित्यनैमित्तिक कर्म होते हैं उन्हें 'क्रियमाण कर्म' कहा जाता है।

पहिले अनेक जन्मों के किए हुए संचित कर्मों द्वारा फल देने को प्रवृत्ति से जिन कर्मों द्वारा यह वर्तमान शरीर बना है और इस शरीर में जिन कर्मों के योग से सुख-दुःख का भोग होता है, उन सब को 'प्रारब्ध कर्म' कहा जाता है।

ये तीन प्रकार के कर्म हैं। इनमें संचितकर्म आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की अग्नि में नष्ट हो जाता है तथा जिस प्रकार जल में रहने पर भी कमल उससे प्रथक् रहता है अर्थात् जल का उससे लेप नहीं हो पाता, उसी प्रकार अपरोक्ष ज्ञान सम्पन्न को 'क्रियामाणकर्मों का लेप नहीं हो सकता, क्योंकि कायिक (शारीरिक), वाचिक तथा मानसिक कर्मों द्वारा जो "मैं कर्त्ता हूँ" ऐसा अभिमान होता है वह ज्ञानी को नहीं होता। अर्थात् क्रियमाण कर्म ज्ञानाग्नि के संयोग से नष्ट हो जाते हैं। श्रुति में भी यह कहा है कि जिस प्रकार ईषिकेत (मूंज नामक घास) की रुई अग्नि दिखाते ही एक दम भस्म हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञान सम्पन्न पुरुष के संचित तथा क्रियमाण पुण्य-पाप मिश्रित सम्पूर्ण कर्म जल कर भस्म हो जाते हैं। "ऐसे ज्ञानी पुरुष के सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं" आदि सम्बन्ध में श्रीकृष्णजी ने गीता में इस प्रकार कहा है—

॥ श्लोक ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

गीता अ० ४, श्लोक ३७

अर्थ—"हे अर्जुन ! सूक्ष्म कष्ठादिक से प्रज्ज्वलित दृश्य अग्नि जिस प्रकार सम्पूर्ण काष्ठों को जला कर भस्म कर देती है,

उसी प्रकार श्रवण, मनन के अभ्यास से उत्पन्न ज्ञानाग्नि संचित तथा क्रियमाण पुण्य-पाप मिश्रित सम्पूर्ण कर्मों को जला कर भस्म कर देती है।

इस प्रकार परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर संचित तथा क्रियमाण—इन दोनों ही कर्मों से निवृत्ति हो जाती है।

अब शेष रहा तीसरा प्रारब्ध कर्म, वह शरीर के साथ है। अर्थात् जब तक यह शरीर जीवित रहता है तब तक प्रारब्ध कर्म के फल रूप जो सुख-दुःख हैं, उन्हें स्थूल देह के द्वारा, सूक्ष्म देह रूप जो अन्तःकरण है, वह भोगता है तथा इसी देह का द्रष्टा स्वयं को अभोक्ता परब्रह्मरूप अनुभव करके ज्ञानी तथा जीवन्मुक्त होता है। इस सम्पूर्ण विषय को आगामी बत्तीसवीं चौपाई में स्पष्ट करके दिखाया गया है।

॥ चौपाई ॥

देहने माथे प्रारब्ध कर्म। हुँ पोते अभोक्ता परब्रह्म ॥
एम जे जाणे अनुभव युक्त । तेने कहिए जीवन्मुक्त ॥३२॥

टीका—संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध ये तीन प्रकार के कर्म हैं। इसमें से संचित तथा क्रियमाणकर्म का नाश ज्ञान से होता है। शेष रहा सुख-दुःख भोग रूप तीसरा प्रारब्ध कर्म, वह शरीर पर आधारित है अर्थात् देह में भोगने के लिए है। स्थूल देह उसका भोगायतन (भोगने का स्थान) है। इन्द्रियाँ उस भोग को भोगने का साधन है। तथा चिदाभास-संयुक्त अन्तःकरण, उन सुख-दुःख भोग रूप प्रारब्ध कर्मों का भोक्ता है। प्रारब्ध कर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं हो सकता। "प्रारब्ध कर्म का भोगने पर ही नाश होता है"-ऐसा शास्त्रों का वचन है।

ज्ञान अथवा अज्ञान से जो देह उत्पन्न होती है, वह प्रारब्ध कर्मानुसार भोग अवश्य भोगने के लिए ही होती है। इसलिए प्रारब्ध कर्मों का फल जो भोग है, उसको अवश्य भोगने पर ही निवृत्ति होती है। यद्यपि ज्ञानी देह तथा उसके भोगों की अपेक्षा नहीं करता, तो भी जब तक प्रारब्ध के भोगों का वेग रहता है, तब तक देह के संयोग सुख-दुःखादि भोग अवश्य भोगने पड़ते हैं, वे किसी प्रकार टल नहीं सकते। क्योंकि प्रारब्ध कर्म वही है, जो अपना फल देने को प्रवृत्त होता है, अतः वह फल दिए बिना निवृत्त नहीं होता।

दृष्टान्त

किसी एक मनुष्य ने अपने हस्तकौशल की परीक्षा लेने के लिए, एक वृक्ष के पत्ते को निशाना बना, जोर से धनुष खींचकर एक वाण छोड़ा। वह वाण उस पत्ते के ठीक निशाने को वेध कर जब आगे बढ़ा, उस समय तीर चलाने वाले के मन में यह आया कि अब यह वाण आगे न बढ़कर यहीं ठहर जाय तो अच्छा रहेगा। परन्तु ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि ऐसा होना संभव नहीं था। इसका कारण यही है कि वाण का जितना वेग है, वहाँ तक अवश्य जाये बिना, वह रुक नहीं सकता है। उसका वेग समाप्त हो जाने पर ही वह गिरेगा, इससे पहिले नहीं गिर सकता। हाँ उस तीर चलाने वाले के तरकश में जो दूसरा वाण है, उस पर उसका अधिकार है कि वह चाहे तो उसे किसी के उपदेश से फेंक दे, जला दे अथवा अन्य किसी प्रकार से नष्ट करदे। उसके सम्बन्ध में वह सब कुछ करने में समर्थ है, परन्तु जो वाण उसके हाथ से छूट चुका है, उसे रोकने की शक्ति उसमें नहीं है। इस न्याय के

अनुसार ज्ञानी अपने संचित तथा क्रियमाण कर्मों को अपनी ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म करने में समर्थ है, परन्तु भोग देने के लिए प्रवृत्त जो उसका प्रारब्ध कर्म है, उसे हाथ से छूटे हुए वाण की भाँति, रोकने में समर्थ नहीं है।

शिष्य—"हे गुरु ! 'जब ज्ञान द्वारा संचित तथा क्रियमाण पुण्य-पाप आदि सब कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, तब उसके द्वारा प्रारब्ध कर्म को निवृत्ति क्यों नहीं हो सकती ?' ऐसी शङ्का उत्पन्न होती है। आप उसका समाधान करने की कृपा करें।"

गुरु—"हे शिष्य ! ज्ञान, अज्ञान तथा संचित एवं क्रियमाण कर्मों का विरोधी है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का विरोधी नहीं है। यदि ज्ञान प्रारब्ध कर्मों का विरोधी होता तो ज्ञान उत्पन्न होने पर प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता और तब उस ज्ञान द्वारा प्रारब्ध कर्मों का भोग पाने वाली देह भी नष्ट होजाती, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है। इससे स्पष्ट दीखता है कि ज्ञान प्रारब्ध कर्म का विरोधी नहीं है। युक्ति के विचार से भी ऐसी ही बात ठहरती है। उस युक्ति के विचार को तू एकाग्रचित्त होकर श्रवण तथा मनन कर और उसके द्वारा अपने संशय को निवृत्त करले।

गुरु—"हे शिष्य ! ज्ञान का उपदेश करने वाला गुरु स्वयं ज्ञानी होता है अथवा अज्ञानी होता है ? इस बात को लेकर पहिले चला जाय तो ठीक समाधान हो जायगा। यदि गुरु को स्वयं ज्ञान न होगा तो वह अन्य जिज्ञासुओं को ज्ञान का उपदेश किस प्रकार कर सकेगा ? अर्थात् नहीं कर सकता है। अस्तु, जब गुरु ज्ञान सम्पन्न है, तभी वह जिज्ञासुओं को ज्ञान का उपदेश कर सकता है, ऐसी स्थिति में क्या ठहरता है, उसे सोच ? जब गुरु ज्ञानी है और

ज्ञान का उपदेश करता है तो वह (उपदेश करना) देह के बिना संभव नहीं हो सकता तथा देह की स्थिति होने पर उसका प्रारब्ध कर्म से बचना सम्भव नहीं हो सकता । इससे प्रतीत होता है कि उपदेश करने वाले गुरु का देह प्रारब्ध कर्म सहित है, उसीसे वह ज्ञान का उपदेश करता है । इस प्रकार ज्ञान प्रारब्ध कर्म का विरोधी नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है । यदि यह माना जाय कि ज्ञान प्रारब्ध कर्म का विरोधी है, तो जिस समय गुरु को ज्ञान प्राप्त होगा, उस समय प्रारब्ध कर्म नष्ट होने के साथ ही उनका शरीर भी नष्ट हो जायेगा । इस प्रकार जब गुरु के शरीर का नाश हो जायेगा, तब ज्ञानोपदेश करने वाले गुरु के अभाव में ज्ञान मार्ग का समुदाय भी लोप हो जायगा । तथा 'अमुक व्यक्ति उपदेश कर्त्ता ज्ञानी है' ऐसा बोलना सम्भव न हो सकेगा । इस प्रकार से अनेक विरोध हैं । अतएव ज्ञान प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं करता"—ऐसा मानना ही ठीक है ।

इसके अतिरिक्त श्रुति-शास्त्रों में याज्ञवल्क्य, उद्दालक, वशिष्ठ, पाराशर, वीतहव्य, वेदव्यास, शुकदेव आदि अद्वैतज्ञान ज्ञान निष्ठ ज्ञानी पुरुषों को ज्ञान समुदाय के प्रवर्तक के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध किया गया है । इसी प्रकार जनक, भगीरथ, शिखि-ध्वज आदि अतुल प्रतापी राजा भी अद्वैतज्ञाननिष्ठ होकर जीवन-मुक्त हुए हैं, ऐसा महाभारत, श्रीमद्भागवत, योगवसिष्ठ आदि ग्रन्थों में कहा गया है । इसलिए यदि ज्ञान द्वारा प्रारब्ध कर्म का नाश होता तो याज्ञवल्क्य आदि ऋषि एवं जनक आदि राजाओं को जीवन्मुक्त कहना सम्भव नहीं था । क्योंकि जो पुरुष प्रारब्ध कर्म के योग से जीवित रह कर आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त,

एक, अद्वैत, अकर्त्ता, अभोक्ता तथा सच्चिदानन्द रूप है, ऐसा जानकर मुक्त हुए हैं, उन्हीं को जीवन्मुक्त कहा जाता है। इसलिए ज्ञान प्रारब्ध कर्म को निवृत्त नहीं करता है, ऐसा स्पष्ट समझना चाहिए। श्री रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदि को सामर्थ्यवान् तथा ज्ञान द्वारा शुद्ध होने पर भी प्रारब्ध कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ा, ऐसा वाल्मीकीय रामायण तथा व्यास जी कृत महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

॥ श्लोक ॥

अवश्यंभावि भावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नल राम युधिष्ठिराः ॥

अर्थ--अवश्य होने वाले प्रारब्ध कर्म के फल योग को मिटाने का कोई उपाय यदि होता तो राजा नल, श्री रामचन्द्र तथा राजा युधिष्ठिर ये तीनों ही राजा राज्य रहित होकर, बनवास आदि का दुःख न भोगते।

इसलिए ज्ञानी अथवा अज्ञानी, चाहे जो हो, उसे देह के प्रारब्ध कर्म को भोगे बिना निवृत्ति मिलना सम्भव नहीं है। ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानी के संचित आदि कर्म अवश्य निवृत्त हो जाते हैं।

इस पर श्रुति के अर्थ के समान एक प्रामाणिक पुरुष का वचन इस पकार है--

॥ श्लोक ॥

प्रारब्धं भोगतो नश्येत् शेषं ज्ञानेन दह्यते ।
शारीरं त्वितरत् कर्म तद् द्वेषिप्रिय वादिनोः ॥

अर्थ--ज्ञानी के प्रारब्ध कर्म भोगने पर ही निवृत्त होते हैं,

जो संचित कर्म होते हैं, वे ज्ञान द्वारा नाश को प्राप्त हो जाते हैं तथा तीसरे जो शरीर सम्बन्धी शुभाशुभ क्रियमाण कर्म होते हैं, वे उस ज्ञानी से प्रीति तथा दोष करने वाले पर चले जाते हैं। ज्ञानी तथा ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की जो भक्ति पूर्वक स्तुति तथा पूजन करते हैं, वे उस ज्ञानी के पुण्य कर्मों को ग्रहण कर लेते हैं तथा जो ज्ञानी की निन्दा अथवा द्वेष करते हैं, वे उसके अशुभ कर्मों को ग्रहण करते हैं---ऐसा श्रुति में कहा गया है।

इसलिए प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप प्राप्त जो सुख-दुःख आदि भोग हैं, उन्हें देह भोगता है तथा "उनका प्रकाशक मैं अभोक्ता परब्रह्म हूँ"-जो मनुष्य ऐसा अनुभव करता है तथा निश्चित रूप से समझता है, उसे जीवन्मुक्त कहना चाहिए अर्थात् वह देही (शरीरधारी) मुक्त है, अस्तु, "मैं देह हूँ" ऐसी बुद्धि को त्याग कर "मैं आत्मा ब्रह्मरूप हूँ" ऐसा निश्चय करना चाहिए।"

देहाभिमान पाप रूप है तथा आत्मज्ञान पुण्य रूप है।

"मैं देह हूँ" ऐसा मानना दोषास्पद है तथा आत्मा का बोध महापुण्य प्रद है-इस प्रकार का वर्णन गुरु आगे लिखे अनुसार करते हैं---

॥ चौपाई ॥

देहने हूँ माने जो कोई । महादोषी कहिए सोई ॥
आत्मबुद्धि जेने भाई । महापुण्य जाणीए ताई ॥ ३३ ॥

टीका-जो मनुष्य अपने को 'मैं देह हूँ' ऐसा मानता है, उसे महादोषी किंवा महापापी कहना चाहिए। स्मृति में यह कहा गया है कि---

"नानृतात्पातकं परम्"

अर्थात् असत्य भाषण की अपेक्षा अधिक बड़ा पाप अन्य कोई नहीं है । अर्थात् असत्य बोलना ही सबसे बड़ा पाप है । इस नियम के अनुसार 'देह हो आत्मा है' ऐसा जो कहता है, वह असत्य बोलता है, क्योंकि देह पंचभूतों का कार्य है तथा आत्मा पंचभूतों का कारण है । इसलिए देह विकारी, दृश्य,अनित्य, जड़, परिच्छिन्ना तथा सावयव है और आत्मा अविकारी, दृष्टा, नित्य, ज्ञानस्वरूप, परिपूर्ण तथा निरवयव है । देह अपवित्र, दुर्गन्ध, मल-माँस-मूत्र-रुधिर आदि से भरी हुई है तथा आत्मा सदा शुद्ध, निर्मल एवं आनन्द पूर्ण है । इस प्रकार देह तथा आत्मा के लक्षण परस्पर भिन्न होने से आत्मा देह से पृथक् है ऐसा अनुभव से सिद्ध है, तो भी 'देह से आत्मा पृथक् है' ऐसा न समझ कर, जो 'मैं देह हूँ' ऐसा कहता है, उसे महादोषी समझना चाहिए अथवा जिस प्रकार वात, पित्त, कफ इन तोनों के एकत्र होने पर महादोष (त्रिदोष) अथवा सन्निपात कहा जाता है तथा यह सन्निपात जिसको होता है, वह मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी प्रकार देहाभिमानी पुरुष भी महादोषी है अर्थात् उसे सन्निपात होगया है, ऐसा समझना चाहिए ।

श्रीमद्भागवत् में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से इस प्रकार कहा है कि, 'हे उद्धव ! अहंता-ममता रूप बुद्धि केवल सन्निपात है, ऐसा समझना चाहिए ।' अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों के स्थान तथा उनमें अहंता-ममता रखने को सन्निपात के समान समझना चाहिए । ऐसा सन्निपात जिसे होजाता

है, वह मरने के लिए स्वाधीन रहता है तथा उसका जन्म-मरण रूप दुःख निवृत्त नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

इसके विपरीत जिस मनुष्य को ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु की कृपा से 'मैं सच्चिदानन्द आत्मा हूँ' ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई होती है, उसके पुण्य प्रवल हैं, ऐसा समझना चाहिए।

'ब्रह्म विचार विलक्षण पुण्य का हेतु है'—इस सिद्धान्त मुक्तावलि में आप्त पुरुष का वाक्य इस प्रकार है---

क्षण भर ब्रह्म विचार का फल

॥ श्लोक ॥

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ताऽपि सर्वावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्र मखिला देवाश्च संपूजिता।
संसाराच्य समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ-
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

अर्थ—ब्रह्म विचार में जिस पुरुष का मन क्षणमात्र के लिए स्थिर होता है, वह पुरुष गङ्गा आदि सम्पूर्ण तीर्थों के जल में स्नान कर चुका है, ऐसा समझना चाहिए। इतना ही नहीं, उसने सम्पूर्ण पृथ्वी का दान किया है, सहस्रों यज्ञ किये हैं, जितने भी देवता हैं, उन सबकी पूजा की है, अपने सम्पूर्ण पितरों का संसार से उद्धार कर दिया है, अर्थात् उन्हें उत्तम गति प्राप्त करा दी है तथा स्वयं को भी तीनों लोकों में पूजनीय वना लिया है, ऐसा समझना चाहिए।

क्षण भर ब्रह्म का विचार करने पर जब ऐसा पुण्य होता है, तब 'मैं ब्रह्म रूप आत्मा हूँ' जिसकी सदैव ऐसी ब्रह्माकार बुद्धि

रहती है, उसके पुण्य की कोई समता नहीं है, ऐसा समझने में क्या आश्चर्य है ?

उपर्युक्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में पुराण का प्रमाण भी इस प्रकार देते हैं—

॥ श्लोक ॥

देहात्मबुद्धिजं पापं न तद्गोवधकोटिभिः ।
आत्माऽहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥

अर्थ—'देहात्मबुद्धिजं पापं' अर्थात् 'मैं देह हूँ' यह मानने से इतना भारी पाप लगता है,जो करोड़ों गायों की हत्या करने के पाप से भी अधिक होता है। (श्रुति में भी ऐसा कहा गया है, कि देहाभिमान करने से ही सम्पूर्ण दोष (पाप) उत्पन्न होते हैं, जिससे वह मनुष्य पापी तथा आत्महत्या करने वाला होता है) तथा 'मैं सच्चिदानन्द आत्मा हूँ' ऐसी बुद्धि रखने से ऐसा श्रेष्ठ पुण्य होता है, जैसा पुण्य न तो कभी पहिले प्राप्त हुआ होता है, और न आगे कभी प्राप्त होने वाला होता है ।

इस प्रकार आत्मबुद्धि परम पुण्य रूप है—ऐसा शुद्ध, ज्ञान रूप एक देवता सम्पूर्ण मनुष्यों के हृदय में साक्षीरूप होकर निवास करता है। बन्धनों का कारण जो भेद बुद्धि है, उसका शिष्य से त्याग करा कर तथा भेद बुद्धि बन्धनों का कारण है, ऐसा निम्नलिखित प्रकार से सद्गुरु निरूपण करते हैं—

॥ चौपाई ॥

जेने तुं कहे छे देव। ते चैतन्य स्वयमेव ॥
बीजो देव माने जो कोई। एज बन्धन तेमे होई ॥३४॥

टीका—'हे शिष्य ! तू जिसे चैतन्य, स्वयं प्रकाश्य देवता

कहता है, वह चैतन्यरूप देव तू स्वयं ही है। वह चैतन्यरूप स्वयं प्रकाश्य देव सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही आत्मा रूप से है, अतः 'चैतन्य रूप देव आत्मा तू स्वयं ही है' ऐसा जान। चैतन्यरूप आत्मदेव को अज्ञान से विस्मरण कर, 'मैं देह हूँ' ऐसा मानकर तथा 'चैतन्य रूप देव अपने से कोई भिन्न है' ऐसा जो कोई मानता है, वह उस भेद मानने के अज्ञान रूपी बन्धन में बँध जाता है तथा भेद मानने का कारण होता है। श्रुति में भी कहा गया है कि 'जो कोई ऐसा समझ कर कि "मैं भिन्न हूँ तथा देव मुझसे भिन्न है"—अन्य देवता की उपासना करता है तो वह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को नहीं जान सकता तथा वह देवों के पशु के समान होता है।'

जिस प्रकार पशु गाड़ी जोतने, खेत में हल चलाने तथा बोझ उठाने आदि के कामों में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार मनुष्य रूपी पशु यज्ञ आदि के भोग द्वारा देवताओं को भोग देकर, उनके काम में उपयोगी बनता है अर्थात् वह देवताओं का पशु बन जाता है।

एक दूसरी श्रुति में कहा गया है कि 'जो पुरुष अद्वैत ब्रह्म में भेद बुद्धि करता है, वह पुरुष बारम्बार मृत्यु के मुख में पड़ता है' अतः भेद बुद्धि को त्याग कर "एक चैतन्यदेव ही सबके मन का साक्षी है'—ऐसे गुरु शास्त्र के उपदेश को जान कर अभेद बुद्धि रखनी चाहिए।

मन का जानने वाला तू है

स्मृति में भी गुरु-शिष्य-सम्वाद रूप में—'सबके मन का साक्षी देवता एक है' ऐसा कहा गया है—

॥ श्लोक ॥

को देवो यो मनः साक्षी मनो मे दृश्यते मया।
तर्हि देवस्त्वमेवासि एको देव इति श्रुतेः॥

अर्थ–किसी एक उत्तम अधिकारी मुमुक्षु पुरुष ने वेद वाक्य में यह सुना कि 'देव को जान लेने से सम्पूर्ण बन्धनों से निवृत्ति होजाती है'–तब यह सुन कर वह अपने मन में विचार करने लगा कि 'ऐसे देवता को मैं किस प्रकार जानूं तथा मुझे उस देवता का अनुभव कौन करा सकेगा ?' ऐसा विचार कर उसने एक ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर प्रश्न किया–'को देवो ?' अर्थात् देव कौन है ? तब गुरु ने उसे उत्तर दिया–'मन: साक्षी' अर्थात् जो मन का साक्षी (मन को जानने वाला) है, वही देव है।'

गुरु के ऐसे वचन सुनकर उसने विचार किया कि 'भला मन को जानने वाला कौन होगा? क्या इन्द्र आदि देवता इसे जानने वाले हैं अथवा इसका ज्ञाता कोई अन्य है ?' ऐसा बारम्बार सोचने पर भी उसके मन को कोई निश्चय नहीं हुआ। तब वह एक अन्य बुद्धिमान् मनुष्य के पास जाकर उससे यह पूछने लगा कि 'हे दयासागर सत्पुरुष ! मेरे मन को जानने वाला कौन है ?' उस समय उस सज्जन पुरुष ने उत्तर दिया–'अपने मन को जानने वाला तू स्वयं है, दूसरा कौन होगा ?'

इस उत्तर को सुनकर उस मनुष्य ने विचार किया कि इन्होंने भी मुझे ठीक उत्तर नहीं दिया, अत: अपने प्रश्न को किसी तीसरे व्यक्ति के सम्मुख रखना चाहिए। यह निश्चय करके वह एक अन्य सत्पुरुष के पास जाकर, उनसे पूछने लगा–'हे दयालु सत्पुरुष ! मेरे मन का साक्षी कौन व्यक्ति है ?' तब उस सत्पुरुष

ने भी पहिले सत्पुरुष के अनुसार यह उत्तर दिया कि 'अपने मन को जानने वाला तू स्वयं ही है।'

इस प्रकार वह व्यक्ति फिर दो-चार अन्य सत्पुरुषों के पास गया, परन्तु उन सभी ने पहिलों की भाँति ही उत्तर दिया। सब जगह से एक ही उत्तर पाकर, वह मनुष्य उनके वचनों पर विश्वास करके, एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन में यह विचार करने लगा कि देखूँ "मैं स्वयं अपने मन का साक्षी हूँ, अथवा नहीं ?"

ऐसा विचार करते-करते उसकी समझ में यह आया कि "संकल्प-विकल्प करना तथा सुख-दुःख को भोगना यह मन का धर्म है। इसी भाँति बाहर के पदार्थों में गमनागमन (आना-जाना) भी यही करता है। अतः मन के धर्म को जानने वाला एवं उसका साक्षी मैं स्वयं हूँ।" क्योंकि ध्यान करते समय उसे यह जान पड़ा था कि जब एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य से वार्तालाप कर रहा हो, उस समय यदि सुनने वाले मनुष्य का मन किसी दूसरी ओर लगा हो तो वह एक बात भी नहीं सुन सकता है। ऐसी स्थिति में जब वक्ता को यह पता चलता है कि श्रोता ने उसकी बात सुनी ही नहीं, क्योंकि उसका मन किसी दूसरी ओर लगा हुआ है, तो वह श्रोता से पूछता है-'हे भाई ! तुमने मेरी बात सुनी ?' उस समय श्रोता उसे यह उत्तर देता है-'नहीं, भाई ! इस समय तक तुमने क्या कहा, इसका मुझे कोई पता नहीं है, क्योंकि मेरा मन किसी दूसरी ओर चला गया था, इसीलिए मैं कुछ नहीं सुन सका। अब मेरा मन ठिकाने पर आ गया है, अतः तुम फिर से कहो। मैं उसे सुनूँगा।"

इस बात से सिद्ध होता है कि पहिले मन के बाहर जाने

तथा फिर अपने स्थान पर लौट आने को जानने वाला ही उस मन का साक्षी है। अतएव मन की चंचलता तथा स्थिरता, इसी प्रकार जागृति एवं स्वप्न में संकल्प-विकल्प पूर्वक जो विषय मन में स्फुरण पाते हैं तथा उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में, मन में सम्पूर्ण वृत्तियों के होने वाले अभाव आदि सबका जानने वाला (प्रकाशक) मैं ही हूँ अर्थात् मैं ही मन का साक्षी हूँ।

अस्तु, इस अनुभव को प्राप्त करने के पश्चात् इस पर विचार करके अर्थात् उस पर निश्चय करके मुमुक्षु गुरु के पास जाकर, उनसे कहता है—'मनो मे दृश्यते मया' अर्थात् मन मुझे दिखाई देता है अथवा मैं अपने मन का साक्षी स्वयं हूँ। ऐसा मुझे विश्वास होगया है।"

शिष्य के ऐसे वचन सुनकर गुरु कहते हैं—"तर्हिदेवस्त्व मेवासि" अर्थात् "तब तू ही वह देवता है" किंवा प्रत्यक्चैतन्य, स्वयंप्रकाश्य, देवरूप, साक्षी आत्मा तू ही है।

इस प्रकार 'कोदेवो यो मनः साक्षी'–स्मृति के तीन चरणों में यह सिद्ध किया गया कि 'सब प्राणियों के मन का साक्षी जो आत्मा है, वही देवरूप। हैं'–ऐसा समझना चाहिए। अब उसी स्मृति के चतुर्थ चरण में यह सिद्ध करते हैं कि 'सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में निवास करने वाला देव एक ही है।" यहाँ श्वेताश्वतर उपनिषद् से श्रुति का प्रमाण देते हैं। वह चरण इस प्रकार है—'एको देव इति श्रुतेः' यह श्रुति का प्रमाणभूत वाक्य है, जिसका यह अर्थ है कि ब्रह्मा देवता से लेकर चींटी पर्य्यन्त सभी प्राणियों में स्वयंप्रकाश्य चैतन्य-रूप देव एक (अद्वितीय) ही है। तो भी सद्विचार रहित अज्ञानी लोगों को अज्ञान जन्य आवरण तथा देहाभिमान के कारण यह

नहीं जान पड़ता कि ऐसा वह देव अपरोक्ष रूप है, इसीलिए उसे गूढ़, गुप्त कहते हैं।

वह देव सर्वव्यापक, सब भूतों का अन्तरात्मा, शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला तथा पृथ्वी आदि सम्पूर्ण भूतों का अधिष्ठान एवं सम्पूर्ण भूतों का साक्षी, द्रष्टा, चैतन्यरूप, वास्तव में केवल निष्प्रपंच (प्रपञ्च रहित) निर्विकल्प तथा निर्गुण (सत्वादि तथा ज्ञानादिक गुणों से परे, सत्यरूप, ज्ञानरूप एवं आनन्दरूप) है।

अतः हे शिष्य ! 'मन का तथा बुद्धि का साक्षी जो आत्मा है वही देव है' ऐसा निश्चय कर,—"उस देव से मैं भिन्न हूँ"—ऐसी भेदबुद्धि को त्याग देना चाहिए। क्योंकि "द्वैत मानने से भय होता है" ऐसा श्रुति में कहा गया है। भागवत में भी यह कहा गया है कि "भयंद्वितीयाभिनिवेशतःस्यात्" अर्थात् द्वैत (भेद) में आग्रह करने से जन्म-मरणादि दुःखों की प्राप्ति होती है, इसलिए भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार स्वयंप्रकाश्यरूप चैतन्यदेव का सर्वात्मापन निरूपण किया गया। अब अमानित्वादि श्रेयस्कर साधनों का सम्पादन तथा पूर्वकथित २९ वें दोहे का निरूपण नीचे किया जाता है, जिसमें सामवेद के महावाक्य के अखण्डार्थ, अभेदार्थ (ब्रह्मनिष्ठ) सद्गुरु के उपदेश को हृदय में रखकर मनन, निदिध्यासन द्वारा जिसने अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, प्रत्यक्, एकारस सच्चिदानन्द, ब्रह्मरूप, निर्विकल्प तथा निष्क्रिय—ऐसी आत्मा का दृढ़ साक्षात्कार अपने अनुभव द्वारा किया है, वह पुरुष ज्ञानामृत से जीवन्मुक्त होकर, कृतकृत्यतारूप तृप्ति को प्राप्त हुआ है। यद्यपि ऐसे पुरुष को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, परन्तु मोक्ष की इच्छा से जो श्रवणादिक

में प्रवृत्त है, किन्तु उसकी वृत्ति वाह्य विषयों के संकल्प से चंचल होने के कारण अपरोक्ष, अद्वितीय आत्मा के अनुसन्धान में दृढ़ निष्ठावान् नहीं होती है—ऐसे मुमुक्षुओं को अपने मन की वृत्ति को वाह्य विषयों के संकल्पों से निवृत्त करके, उसमें स्थिरता उत्पन्न करने के लिए तथा अद्वितीय आत्मा का अपरोक्ष दृढ़ बोध प्राप्तकर, जीवन्मुक्त होने तथा उसके पश्चात् विदेहमुक्ति की प्राप्ति के लिए, समाधि का अभ्यास अवश्यमेव करना योग्य (कर्तव्य) है। इसीलिए सद्गुरु उस समाधि के अभ्यास का निरूपण ३५ वें दोहे में करते हैं-----

ध्यान के अभ्यास का प्रकार

॥ दोहा ॥

प्रथमवृत्ति त्याग करी, बीजी उठवा न दइए ।
वचमा निर्विकल्प दशानो, अभ्यास करता रहिए ॥३५॥

टीका---'प्रथम वृत्ति' अर्थात् मैं देह हूँ, एवं मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी हूँ,–ऐसी जो मन की वृत्ति है उसे, किंवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों के स्मरण करने वाली जो वृत्ति है, उसे ''त्याग कर'' अर्थात् त्यागकर, देहादिक में से अहंता-ममता रूप अथवा शब्दादि विषयों का स्मरण करने वाली जो दूसरी वृत्ति है, उसे 'उठवा न दइए' अर्थात् उत्पन्न ही न होने दे और 'वचमा' अर्थात् इन दोनों के बीच का अवकाश (एक वृत्ति से निवृत्त होकर दूसरी वृत्ति के उदय होने के समय के बीच का अवकाश) जो निर्विकल्प (कल्पना रहित) स्वप्रकाश स्वरूप है, उसी में स्थितरूप दशा (अवस्था) में 'अभ्यास करता रहिए' अर्थात् सविकल्प समाधि का अभ्यास करे, तत्पश्चात् निर्विकल्प समाधि का अभ्यास निरन्तर करता रहे ।

सविकल्प समाधि का प्रकार

शिष्य—"हे गुरु महाराज ! सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि में क्या अन्तर है, यह आप कृपाकर बतावें ?"

गुरु—"हे शिष्य ! समाधि के दो प्रकार होते हैं—१—सविकल्प, २—निर्विकल्प। सविकल्प समाधि के भी दो प्रकार होते हैं, १—दृश्यानुविद्ध, २—शब्दानुविद्ध।"

शिष्य—"हे गुरु ! दृश्यानुविद्ध समाधि किसे कहते हैं ?"

गुरु—'हे शिष्य ! "काम, संकल्प, चिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, भय तथा अन्य कितनी ही सात्त्विकादि वृत्ति जो अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं, उन सब वृत्तियों का दृष्टा—मैं साक्षी चैतन्यरूप हूँ"—ऐसे अनुसन्धान पूर्वक आत्मा के सदैव अनुभव को दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं।"

शिष्य—"हे गुरु ! शब्दानुविद्धि सविकल्प समाधि क्या है, कृपाकर इसे भी बताइये ?"

गुरु—"हे शिष्य ! जिस प्रकार घृत, तैल, चन्दन की सुगन्ध, कीचड़ आदि में आकाश भरा है, परन्तु उनमें लिप्त नहीं है, उनसे प्रथक् रहता है, उसी प्रकार "मैं असङ्ग हूँ" अर्थात् देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण इत्यादि से मैं असङ्ग (भिन्न) हूँ तथा मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ अर्थात् मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से परे सत् हूँ तथा जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं का जानने वाला होने के कारण चित हूँ तथा परमप्रेम का आस्पद तथा स्थान होने के कारण आनन्द हूँ, मैं स्वयं स्वभावतः प्रकाशरूप हूँ तथा दूसरों को प्रकाशित करता हूँ एवं मुझे कोई प्रकाशित नहीं करता अर्थात् मैं स्वप्रकाश हूँ, मैं द्वैत रहित हूँ अर्थात् मेरे स्वरूप से

द्वैत प्रपञ्च का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सभी द्वैतप्रपञ्च कल्पित हैं, इस प्रकार मैं असङ्ग, सत्, चैतन्य, आनन्द तथा स्वयं प्रकाश हूँ"—इस प्रकार प्रत्यक्ष शब्दों का उच्चारण करते हुए, स्वयं को उपर्युक्त कहे अनुसार असंगादि विशेषणों वाला जानने का नाम ही, शब्दानुविद्धि सविकल्प समाधि है ।

इस प्रकार दृश्यानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध इन दोनों प्रकार की समाधि का पहिले अभ्यास करे तथा जब वे दृढ़ होजायँ, तब निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करे ।"

निर्विकल्प समाधि का वर्णन

शिष्य–"हे गुरुदेव ! अब आप बताएँ कि निर्विकल्प समाधि किसे कहते हैं ?"

गुरु–"दृश्यानुविद्ध एवं शब्दानुविद्ध इन दोनों समाधियों का उत्तम रीति से अभ्यास करने के पश्चात् अन्तःकरण के अति आनन्द रूप आत्मा के ज्ञानानन्द का अनुभव प्राप्त करने के आवेश में, काम संकल्पादि दृश्य वृत्तियों का अनुसन्धान त्याग कर, उसी के अनुसार 'मैं असंग हूँ' इत्यादि शब्दों को भी नष्ट करके, संकल्प-रहित तृष्णीभूत ऐसी जो जीव की स्थिति होती है, उसे 'निर्विकल्प समाधि कहते हैं ।

जिस प्रकार वायु के बिना दीपक निश्चल रहता है, उसी प्रकार निर्विकल्प अभ्यास करने वाले पुरुष का चित्त भी निश्चल रहता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में किसी भी प्रकार का द्वैत प्रपंच नहीं भासता । इससे जीव को निर्विकल्प, चैतन्य रूप आत्मा का स्पष्ट अनुभव होता है ।

उस निर्विकल्प चैतन्य सुख के अनुभव का प्रकार, श्रीशङ्कराचार्य्य गुरु ने लघु वाक्य वृत्ति नामक अपने ग्रन्थ में नीचे लिखे अनुसार निरूपण किया है--

॥ श्लोक ॥

नष्टे पूर्व विकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पक चैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते ॥

अर्थ--जब मनस्थित पूर्वोक्त अनेक प्रकार के सम्पूर्ण विकल्प निवृत्त होजाते हैं तथा जब तक अन्य किसी भी प्रकार के विकल्प उत्पन्न नहीं होते, तब तक निर्विकार (कल्पना रहित), एक, स्वयं प्रकाश्य, चैतन्य, स्पष्ट (जिसमें किसी प्रकार का सन्देह न हो) भासता है अर्थात् जिस समय मन में किसी भी प्रकार की विकल्प रूप वृत्ति का स्फुरण (आविर्भाव) नहीं होता, उस समय सम्पूर्ण विकल्पों के अभाव से प्रकाश करने वाला चैतन्य रूप, निर्विकल्प आत्मा स्पष्ट अनुभव होता है एवं उस समय वृत्तियाँ केवल सुखमय तथा निर्विकल्प होती हैं तथा उस समय किसी भी प्रकार का विक्षेप प्रतीत नहीं होता । अतः ऐसी निर्विकल्प वृत्ति होने के लिए अभ्यास करना योग्य एवं आवश्यक है ।

इससे यह भी पता चलता है कि जितने भी विकल्प होते हैं, वे सब अन्तःकरण में रहते हैं एवं आत्मा जो होता है, वह स्वभावतः निर्विकल्प होता है,वह अन्तःकरण स्थित विकल्पों के संयोग से सविकल्प नहीं होता, परन्तु ऐसे निर्विकल्प आत्मा का बोध सद्गुरु के उपदेश से,वेदान्त शास्त्रों के श्रवणादिक से तथा निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से जब तक प्राप्त नहीं होता, तब तक 'मेरी आत्मा विकल्पवान् है' ऐसा भ्रम बना रहता है। अपने इस भ्रम को

निवृत्त करने के लिए ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु की शरण में जाकर वेदान्त शास्त्रों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से "मैं निर्विकल्प आत्मा हूँ" अर्थात् मेरा आत्मा निर्विकल्प है—ऐसा दृष्ट अनुभव करने के हेतु समाधि का अभ्यास करना योग्य एवं आवश्यक है।

इसके उपरान्त उत्तम अधिकारी को आत्मा का साक्षात्कार होने के निमित्त श्रवण, मनन आदि जो मुख्य साधन याज्ञवल्क्य मुनि ने अपनी मैत्रेयी नामक पत्नी को उपदेश किए थे, उन साधनों के सम्बन्ध में गुरु आगे के ३६ वें दोहे में निरूपण करके कहते हैं–

॥ दोहा ॥

श्रवण मनन निदिध्यास करी, करीए साक्षात्कार।
सच्चिदानन्द परब्रह्म हुँ, कहे छे वेद पुकार ॥३६॥

टीका---पहले वेदान्त शास्त्र का श्रवण करे। ब्रह्म तथा आत्मा इन दोनों के ऐक्य का निश्चय कराने वाले जो छः प्रकार के लिङ्ग (गूढ़ार्थ समझाने वाले लक्षण) हैं, उनके योग से संपूर्ण वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य द्वारा ब्रह्मबोध का निश्चय करने का नाम 'श्रवण' कहा जाता है।

शिष्य—"हे गुरु ! आपने जो छः प्रकार के लिङ्ग अर्थात् लक्षण कहे हैं, उनके नाम क्या हैं ?"

उपक्रमोपसंहारादि छैः लक्षण

गुरु--"हे शिष्य ! १–उपक्रमोपसंहार, २–अभ्यास, ३–अपूर्वता, ४–फल, ५–अर्थवाद तथा ६–उपपत्ति—ये छः लिङ्ग (लक्षणों) के नाम हैं।"

शिष्य–"हे गुरु ! उपक्रम तथा उपसंहार किसे कहते हैं ?"

गुरु–"हे शिष्य ! प्रकरण के योग से जो प्रतिपाद्य अर्थ है, उसे प्रकरण से आरम्भ करके जो प्रतिपादन करता है, उसे उपक्रम कहते हैं तथा उपक्रम को जो प्रतिपादन करता है,उसे उपसंहार कहते हैं। उदाहरणार्थ, छान्दोग्य उपनिषद् के छठवें अध्याय में प्रकरण के योग से प्रतिपाद्य एक, अद्वितीय, स्वगत, सजातीय एवं विजातीय जो भेद रहित ब्रह्म वस्तु है, उसे प्रतिपादन प्रकरण से आरम्भ करके, प्रकरण के अन्त में "यह सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप है" ऐसा कहकर उपसंहार किया है।"

अभ्यास लक्षण

शिष्य--"हे गुरुदेव ! अभ्यास किसे कहते हैं ?"

गुरु--"हे शिष्य ! प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य जो अद्वितीय ब्रह्मवस्तु है, उसे प्रकरण में बारम्बार प्रतिपादन करने को अभ्यास कहते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में उद्दालक मुनि ने 'श्वेत केतु' नामक अपने पुत्र को बारम्बार यह उपदेश किया है कि–'तत् त्वं असि" अर्थात् तू ही वह प्रत्यगात्मा ब्रह्म है। इस प्रकार के उपदेश को ही अभ्यास कहते हैं।"

ब्रह्म की अपूर्वता

शिष्य--"हे गुरु ! अपूर्वता किसे कहते हैं ?"

गुरु--"हे शिष्य ! प्रकरण द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय आत्मवस्तु को अन्य प्रमाणों द्वारा अविषयीकरण प्रतिपादित होने की अशक्यता का नाम 'अपूर्वता' है। "श्रुति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण द्वारा ब्रह्म अप्रतिपाद्य है"–ऐसा जो उपनिषदों में कहा गया है, उसके अनुसार अथवा "ब्रह्म स्वप्रकाश रूप है, अतः

उसे जानने के लिए अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है"—इसके अनुसार ब्रह्म की अपूर्वता को जानना चाहिए अर्थात् यही ब्रह्म की अपूर्वता है।"

फल का लक्षण

शिष्य—"हे गुरु ! फल किसे कहते हैं ?"

गुरु—"हे शिष्य ! प्रकरण द्वारा प्रतिपादित आत्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान के साधन रूप श्रवणादि के अनुष्ठान के जिन प्रयोजनों तथा जिन सम्बन्धों के विषय में श्रुति द्वारा वर्णन किया गया है, उन-उन स्थानों पर, उनके प्रयोजन के वर्णन किंवा उल्लेख को फल कहते हैं।"

उदाहरणार्थ—"ब्रह्मनिष्ठ आचार्य (गुरु) के उपदेश द्वारा पुरुष आत्मा को जानता है" "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मरूप होता है" "आत्म तत्त्व को जानने वाला शोक-सागर से तर जाता है" इत्यादि वाक्यों में साधन तथा प्रयोजन का वर्णन एक साथ ही किया गया है। अर्थात् गुरु के द्वारा वर्णित श्रवणादि का उपदेश साधन है तथा आत्म तत्त्व को जानने से ज्ञान प्राप्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह प्रयोजन है। अस्तु, साधन और प्रयोजन के एक साथ वर्णन को ही फल कहते हैं।"

अर्थवाद लक्षण

शिष्य—"हे गुरु ! अर्थवाद किसे कहते हैं ?"

गुरु—"हे शिष्य ! प्रकरण द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूप की, उन-उन स्थानों पर प्रशंसा (स्तुति) करने को अर्थ-वाद कहते हैं। उदाहरणार्थ—"सम्पूर्ण प्रपंचों के अधिष्ठानरूप ब्रह्म को ही श्रवण करने से अश्रुत प्रपंच का भी श्रवण हो जाता है"

उसी प्रकार "ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर सम्पूर्ण जगत् जानने में आ जाता है" इत्यादि प्रशंसा–जो छाँदोग्य उपनिषद् में कही गई है, उसे अर्थवाद कहते हैं ।

उपपत्ति का स्वरूप

शिष्य–"हे गुरु ! उपपत्ति किसे कहते हैं ?"

गुरु–"हे शिष्य ! प्रकरण द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय आत्म-वस्तु को दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादन करने का नाम उपपत्ति है।

उदाहरण–"मृत्तिका के पिण्ड को जान लेने पर घट आदि सभी मिट्टी के पात्र 'यह मिट्टी के हैं'–ऐसा जानने में आता है तथा घट आदि नाम–रूप की असत्यता प्रकट होती है" उसी प्रकार "एक स्वर्ण को जान लेने पर–'कड़े, कुण्डल आदि सम्पूर्ण अलङ्कार स्वर्णमय हैं'–ऐसा समझ में आता है तथा "ये कड़े, कुण्डल आदि सम्पूर्ण विकार यथार्थ में कुछ नहीं हैं, अपितु ये सब केवल स्वर्ण ही है"–इत्यादि जो दृष्टान्त छाँदोग्य उपनिषद् में दिए गये हैं, उसके अनुसार दृष्टान्तों द्वारा युक्ति के विचार से, नाम रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण तथा अद्वितीय ब्रह्म के प्रति-पादन को ही 'उपपत्ति' कहते हैं ।

इस प्रकार उपक्रमोपसंहार आदि छः लक्षणों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में समझने के पश्चात्, श्रवण करने के पश्चात् मनुष्य को मनन करना चाहिए।"

मनन का स्वरूप

शिष्य–"हे गुरु ! मनन किसे कहते हैं ?"

गुरु–"हे शिष्य ! श्रवण किए हुए अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का

असंभावना रूप (संशय रूप) दोष की निवृत्ति के हेतु, वेदान्तानुसार, युक्तियों द्वारा मन में बारम्बार चिन्तन करने को 'मनन' कहते हैं। मनन के सिद्ध हो जाने पर निदिध्यासन करना चाहिए।"

निदिध्यासन का स्वरूप

शिष्य—"हे गुरु ! निदिध्यासन किसे कहते हैं ?"

गुरु—"हे शिष्य ! 'मैं देह नहीं हूँ, मैं स्थूल, कृश, ह्रस्व, दीर्घ नहीं हूँ, मैं वर्णाश्रमी आदि भी नहीं हूँ'—ऐसा मानने तथा इसी प्रकार विजातीय प्रत्यय के तिरस्कार रूप अपने को ऐसा जानने कि 'मैं प्रत्यगात्मा, दृष्टा, साक्षी, सच्चिदानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजन्मा, अजर, अमर, अक्रिय, असंग, अद्वितीय, ब्रह्मरूप हूँ' तथा सजातीयप्रत्यय के प्रवाह को मन में स्थिर करने को निदिध्यासन कहते हैं।

निदिध्यासन के पश्चात् 'करिये साक्षात्कार" अर्थात् आत्मा के निःसन्देह अपरोक्षानुभवरूप 'साक्षात्कार' का सम्पादन करना चाहिए।"

इस प्रकार दोहे के पूर्वार्द्ध में श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा सद्गुरु ने आत्मा का साक्षात्कार करना बतलाया, अब उत्तरार्द्ध में सद्गुरु साक्षात्कार के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

साक्षात्कार का स्वरूप

शिष्य—"हे गुरु ! साक्षात्कार किसे कहते हैं ?"

गुरु—"हे शिष्य ! "सच्चिदानन्द इति" अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष (अन्तःकरण की अहमादि वृत्तियों का प्रकाशक) सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ" ऐसा जो दृढ़ अनुभव होता है, उसे साक्षात्कार

कहते हैं ऐसा 'वेद पुकार' अर्थात् वेद उच्चस्वर से कहते हैं।"

पहिले यह वर्णन किया गया है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीन आत्म साक्षात्कार के साधन हैं। जब तक चित्त की वृत्ति शब्दादिक विषयों में आसक्त रहती है, तब तक उन साधनों की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः विषयों को विष के समान जान कर त्याग देना चाहिए तथा शम आदि छः साधनों से युक्त ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर तथा उनके द्वारा श्रवण, मनन आदि करके आत्मसाक्षात्कार का संपादन करना चाहिए। मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन यही है। इसलिए श्रवणादि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करने के हेतु सत्पुरुषों का समागम सदैव करना चाहिए। इस सम्बन्ध में गुरु आगे कहते हैं —

॥ दोहा ॥

विषय विषवत् त्याग करो, करिए साधु संग।
पोते सच्चिदानन्द सदा, जेमनो तेम अभंग ॥ ३७ ॥

टीका——शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि जो निषिद्ध विषय हैं, उन्हें विष के समान जानकर त्याग देना चाहिए और 'करिए साधु संग' अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, दया, संतोष, अकाम, अक्रोध, क्षमा, सदाचार आदि शुभ लक्षण सम्पन्न श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु का समागम करना चाहिए। ऐसे सत्पुरुषों का समागम करने से स्वयं को भी क्षमा, दया, सन्तोष आदि साधन प्राप्त होते हैं तथा उन साधनों द्वारा श्रवण, मनन आदि करने से आत्मज्ञान होकर, मोक्ष हो जाती है। इसलिए सज्जनों का संग सदैव करना चाहिए। जीव को मोक्ष प्राप्त करने के लिए विषयों का त्याग करना ही श्रेष्ठ साधन है।

इसी सम्बन्ध में अष्टावक्र मुनि ने राजा जनक से नीचे लिखे अनुसार कहा है--

॥ श्लोक ॥

मुक्ति मिच्छसि चेत् तात विषयान् विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवदयातोष सत्यं पीयूषवद्भज ॥

अर्थ--"हे तात ! यदि तुझे मुक्ति की कामना है तो शब्दादि पाँच विषयों को विष के समान जानकर त्याग दे तथा क्षमा, आर्जव (सरलता), दया, संतोष एवं सत्य इन पांचों का अमृत के समान सेवन कर ।

दोहे के पूर्वार्द्ध में, यह कहा गया है कि विषयों का त्याग करके महात्मा तथा साधुओं का समागम करना चाहिए। अब उत्तरार्द्ध में महात्माओं के समागम से जो आत्मज्ञान प्राप्त होता है, उसका सद्गुरु निरूपण करते हैं--

"पोते सच्चिदानन्द सदा"

पोते अर्थात् आप स्वयं (देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि का) प्रकाशक, प्रत्यगात्मा, 'सदा' अर्थात् जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं एवं उसी प्रकार भूत, भविष्यत्, वर्तमान आदि तीनों कालों में 'सच्चिदानन्द' अर्थात् ब्रह्मरूप है। केवल अपने प्रत्यगात्मा 'जेमनो तेम' अर्थात् मन, वाणी से अगोचर, अप्रमेय (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविषय अर्थात् न करने वाला), स्वतः सिद्ध, स्वयं प्रकाश्य, जैसा है वैसा, 'अभंग' (जो कभी भंग न हो) इस प्रकार का है । 'पोते सच्चिदानन्द सदा'–इस चरण का भावार्थ यह है कि सच्चिदानन्द रूप परमात्मा सम्पूर्ण मनुष्यों का

स्वात्म रूप होकर सदा-सर्वदा प्राप्त है, परन्तु केवल अविद्या के संयोग से ही 'अप्राप्त है'—ऐसा भासित होता है। उसे प्राप्त करने के हेतु कितने ही जिज्ञासु जप, तप, तीर्थ आदि अनेक साधनों के अनुष्ठान करते हैं, परन्तु उन्हें वाह्यांग से अर्थात् बाहर से देखकर उसकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु जब उसको अत्यन्त दयालु ब्रह्म-निष्ठ सद्गुरु से भेंट होती है और गुरु उसे प्रत्यगात्मा रूप पर-मात्मा का उपदेश करता है, तब उसे विद्या प्राप्त होकर उसके संयोग से अविद्या से निवृत्ति मिल जाती है। उस स्थिति में उसे 'आत्मा प्राप्त है' ऐसा प्रतीत होने लगता है, परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि 'उससे पूर्व परमात्मा की प्राप्ति नहीं थी और अब हुई है।' वह परमात्मा तो सदैव प्राप्त है। जिस प्रकार अपने कण्ठ का आभूषण (गले में पड़ी हुई कण्ठामाला आदि) कंठ में रहते हुए भी कभी विस्मरण होजाता है और तब उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य अपने कण्ठ का न देख कर बाहर अनेक स्थानों पर ढूँढता रहता है तथा कहीं भी उसका पता नहीं चलता, ऐसी स्थिति में जब कोई अन्य मनुष्य यह कह कर दिखाता है कि यह आभूषण तो तेरे कण्ठ में ही पड़ा हुआ है, तब उसे (आभूषण ढूँढ़ने वाले को) ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आभूषण मिल गया, परन्तु वास्तव में यह बात सत्य नहीं होती; क्योंकि आभू-षण तो उसके कण्ठ में पड़ा हुआ था ही; केवल भूल से ही वह उसे खोया हुआ समझ रहा था।

अस्तु, इसी न्याय के अनुसार सच्चिदानन्द परमात्मा सदैव प्राप्त है तथा 'जेमने तेम अभंग' इस चरण का भावार्थ यह समझना चाहिए कि प्रत्यगात्मा स्वभाव से ही परमात्मस्वरूप

मुक्त है । ऐसा बिल्कुल नहीं है कि पहले जीवरूप था और अब परमात्म स्वरूप हुआ है । किंवा पहिले तो बद्ध (बन्धन में पड़ा हुआ) था और अब पीछे मुक्त हुआ है ।

जिस प्रकार सूर्य में रात्रि तथा दिन दोनों ही नहीं हैं, उसी प्रकार निरन्तर अचिन्त्य, चैतन्यघन, परिपूर्ण, प्रत्यगात्मा परमार्थ दृष्टि से बंध तथा मोक्ष दोनों ही नहीं हैं । श्रुति ने कहा है—

"ब्रह्मरूप ही ब्रह्म को प्राप्त होता है" "मुक्त ही मुक्त होता है"–इत्यादि ।

यदि यह कहा जाय कि मनुष्य पहिले जीवरूप था, तदुपरान्त कर्मोपासनादि साधनों द्वारा परमात्म रूप हुआ तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि यह पहले से ही परमात्मा नहीं है और अब परमात्मरूप हुआ है तो इसका परमात्मापन भी नष्ट हो जायेगा, सदैव वर्तमान न रह सकेगा । यों समझिए कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति औषधियों के रस द्वारा ताँबे को पीला करके उसे स्वर्ण कहने लगे तो वह ताँबा तभी तक स्वर्ण के समान प्रतीत होगा जब तक कि उस औषधि का प्रभाव उस पर वर्तमान रहेगा तथा कालान्तर में जब औषधि का प्रभाव क्षीण हो जायेगा, तब वह फिर ताँबा रह जायेगा, किसी भी प्रकार स्वर्ण न रहेगा । अतः प्रत्यगात्मा स्वभावतः परमात्मरूप होता है, ऐसा जानना चाहिए । कर्म अथवा उपासना से परमात्मरूप होता है, ऐसी बात नहीं है । 'जेमनो तेन अभंग' कहने का यही तात्पर्य है ।

प्रत्यगात्मा का बोध ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के समागम से प्राप्त होता है, अतः सदैव सत्सङ्ग करना चाहिए ।

संत्संग द्वारा संसार-बन्धन से निवृत्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस सम्बन्ध में श्री ज्ञानगीता में इस प्रकार कहा गया है--

॥ श्लोक ॥

सत्सङ्गेन परं प्राप्य दुस्तरं तरतेऽचिरात् ।
तस्मादति प्रयत्नेन सत्सङ्गं सततं कुरु ॥

अर्थ---'सत्संङ्गेन' अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के समागम से, 'परंप्राप्य' अर्थात् सच्चिदानन्द, परिपूर्ण, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप परमात्मा के स्वात्मस्वरूप को प्राप्त होकर, 'दुस्तरं' अर्थात् समुद्र के समान इस कठिन संसार से (मनुष्य) 'अचिरात्' अर्थात् शीघ्र 'तरते' अर्थात् तर जाता है (पार हो जाता है) ।

संसार रूपी समुद्र के रूप का वर्णन

शिष्य--"हे गुरुदेव ! आपने बताया है कि संसार रूपी समुद्र से पार होना कठिन है। तो जिस प्रकार समुद्र में भँवर, मगर-मच्छ होते हैं, उसी प्रकार इस संसार में क्या है, उसे आप बताने की कृपा करें ?"

गुरु--"हे शिष्य! समुद्र के समान इस संसार म स्त्री-पुत्रादि का मोह भँवर के समान है। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार रूप मगर तथा मछलियाँ हैं। क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक रूप इसमें बड़ी लहरें हैं। आध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैव--इन तीनों का स्वरूप बड़वानल है। निरन्तर रहने वाली दुर्वासनाएँ सिवार के समान हैं तथा अनेक विषयों रूपी जल इसमें भरा हुआ है। ऐसे इस संसार समुद्र को मनुष्य सत्संग द्वारा आत्मबोध प्राप्त कर, बिना किसी

विलम्ब के इस प्रकार पार कर लेता है जिस प्रकार कि नौका द्वारा समुद्र पार हो जाता है।

'तस्मात्' अर्थात् इसलिए 'अति प्रयत्नेन' अर्थात् अत्यन्त परिश्रम करके अर्थात् वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठान यज्ञ, दान जप, तप, आदि साधनों द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध कर, विवेकादि साधन सम्पन्न होकर तथा एकाग्रचित्त से ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के सदुपदेश को ग्रहण कर, जिसमें भोजन आदि की आवश्यक क्रिया भी त्याग दो जाय अर्थात् उस समय यदि भूख लगे तो भी उसे मन से भुला दे, ऐसे मार्ग पर चल कर 'सत्संगं सततं कुरु' अर्थात् सत्पुरुषों का संग करे।

हे शिष्य ! ऐसा सत्सङ्ग तू सदैव कर। सब समय सद्विचार करने के सम्बन्ध में शास्त्र का प्रमाण इस प्रकार है–

सदैव सद्विचार के सम्बन्ध में प्रमाण

॥ श्लोक ॥

आसुप्तरामृतः काल नयेद्वेदान्त चिन्तया।
दद्यान्नावसरं कि.चित्कामादीनां मनागपि ॥

अर्थ–जगने से लेकर सोने तक तथा इसी प्रकार विवेक प्राप्त होने के पश्चात् देहपात (मृत्यु) पर्यन्त श्रद्धा, भक्ति पूर्वक वेदान्त शास्त्रं का विचार करते हुए ही मनुष्य को अपना समय विताना चाहिए तथा मन में काम, क्रोध आदि को तनिक भी स्थान नहीं देना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब सब समय मन में वेदान्त का विचार रहेगा, तब काम, क्रोध आदि को प्रकट होने का अवसर नहीं मिलेगा।

दृष्टान्त–जिस प्रकार कोई एक मनुष्य अपने घर में कुछ

काम न करता हुआ, स्वस्थ बैठा हो, उसी समय बाहर से कोई दुर्गुणी मनुष्य आवे और वह उसे देख कर उसका आदर-सत्कार करे तो वह दुर्गुणी मनुष्य प्रतिदिन उसके पास आना प्रारम्भ कर देगा तथा निरन्तर इधर-उधर की बातें कह कर, वह उस सद्गुणी मनुष्य को भी अपने ही समान दुर्गुणी बना देगा। इसके विपरीत यदि वह (सद्गुणी मनुष्य) उस दुर्गुणी मनुष्य का आदर सत्कार न करे, और उसे आते देख कर, उसकी ओर दृष्टि भी न डाले तथा कोई पुस्तक लेकर उसे पढ़ना आरम्भ कर दे तो वह दुर्गुणी मनुष्य अपनी उपेक्षा होती देख, निराश हो, स्वयं उठ कर चला जायेगा तथा इसी प्रकार दो-चार बार अनादर होने पर वह फिर कभी नहीं आवेगा। इस न्याय के अनुसार वेदान्त विचार के बिना, जब मनुष्य निरुद्योगी बैठा होता है, तब काम, क्रोध आदि दुर्गुण उसके पास अवश्य आते हैं। उस समय यदि वह मनुष्य उनका आदर करता है तो वे काम, क्रोध आदि उस मनुष्य को अपने अनुकूल बना कर परमार्थ से भ्रष्ट बना देते हैं। यदि इसके विपरीत वह मनुष्य दिन-रात वेदान्त का विचार करता रहता है तो उसके पास काम, क्रोध आदि नहीं आते हैं। यदि आते भी हैं तो उस विवेकी मनुष्य द्वारा तिरस्कार पाकर चल देते हैं और फिर कभी लौट कर नहीं आते। इसलिए कामादिक दुर्गुणों को किसी प्रकार का अवसर न देने के लिए हर समय वेदान्त विचार का अतिक्रमण एवं सत्सङ्ग करते रहना चाहिए। सत्पुरुषों के सत्सङ्ग से अनेक जन्मों के पाप, अध्यात्म आदि अनेक प्रकार के ताप तथा दैन्य आदि सभी निवृत्त हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक सत्पुरुष का वाक्य इस प्रकार है।

॥ श्लोक ॥

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।
पापं तापं च दैन्यं च हरेत्साधु समागमः ॥ १ ॥

अर्थ–गङ्गा में स्नान करने से गङ्गा माता पापों को नष्ट कर देती है, चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों द्वारा वाह्य ताप को नष्ट कर देता है तथा कल्पवृक्ष अभिलाषित सुखोपभोग को प्रदान कर, दैन्य का नाश कर देता है; परन्तु साधु (ब्रह्मनिष्ठ सत्पुरुष) का समागम सब प्रकार के पाप, आन्तरिक तथा बाहरी सब प्रकार के ताप एवं दैन्य इन तीनों का नाश कर देता है। इसलिए गङ्गा, चन्द्रमा तथा कल्पवृक्ष इन तीनों की अपेक्षा सत्संग श्रेष्ठ है। अतः मनुष्य जबतक जीवित रहे, तब तक उसे सत्सङ्ग करते रहना चाहिए।"

शिष्य––"हे गुरुदेव ! आपने पहिले कहा है कि जब तक आत्मज्ञान न हो, तभीतक ज्ञान प्राप्त करने के हेतु सत्सङ्ग करना चाहिए, परन्तु जब आप 'मृत्यु पर्यन्त सत्सङ्ग करे' ऐसा कह रहे हैं। इसका क्या कारण है ?"

गुरु–"हे शिष्य यद्यपि शास्त्रों के सुनने से आत्मज्ञान होता है, परन्तु जब तक शरीर रहता है, तब तक देह के व्यवहार करने के कारण मन की वाह्यवृत्ति रहती है, इसलिए तथा 'मन चञ्चल होता है' इसलिए–यदि सब समय सत्सङ्ग न किया जाय तो प्रपंचों द्वारा अहंममाऽध्यास के भोग से विपरीत बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिए सब समय सत्संग करना आवश्यक कहा है। इसके अतिरिक्त जिन मनुष्यों को आत्मा का दृढ़, निःसन्देह, अपरोक्ष

बोध हो गया है, उन्हें यद्यपि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उनके लिए भी वेदान्त शास्त्र की यह आज्ञा है कि गुरु तथा ईश्वर का सेवन (सत्सङ्ग) सब समय करते रहना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक आप्तपुरुष के वचन का प्रमाण इस प्रकार है--

वेदान्त गुरु तथा ईश्वर की वन्दना

॥ श्लोक ॥

यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः ।
आदौ ज्ञान प्रसिद्ध्यर्थं कृघ्नतत्वापनुत्तये ॥

अर्थ–मनुष्य को देहपात (मृत्यु) पर्यन्त वेदान्तशास्त्र और उसका उपदेश करने वाले सद्गुरु तथा ईश्वर इन तीनों की वन्दना करना योग्य है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदान्त का श्रवण तथा गुरु एवं ईश्वर का सेवन (भक्ति) सदैव करना आवश्यक है तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जिसके द्वारा ज्ञान हो, उस वेदान्त शास्त्र के गुरु तथा ईश्वर का यदि सेवन (भक्ति) न किया जाय तो यह कृतघ्नता होती है, तथा इस कृतघ्नता से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जब तक देह जीवित रहे, तब तक मनुष्य को इन तीनों का सेवन करते रहना चाहिए एवं परिपूर्ण, अखण्ड तथा एकरस परमात्मा के ज्ञान द्वारा दुस्तर संसार सागर से पार जाने के हेतु एवं कृतघ्नता का दोष न पाने के लिए, ईश्वर तथा गुरू के प्रति निस्सीम भक्ति रख कर, वेदान्त शास्त्र के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करते हुए ही समय व्यतीत करना चाहिए।"

उपसंहार

॥ गीति वृत्त ॥

निर्जरवागज्ञानां सुखबोधार्थं कृतं मुमुक्षूणाम् ।
यैरिह पंचीकरणं नरवाण्या तान् गुरून्सदावन्दे ॥

अर्थ—जिन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है, परन्तु जो संसार–बन्धन से मुक्त होने की दृढ़ आकांक्षा रहते हैं, ऐसे जिज्ञासुओं को अनायास ही सच्चिदानन्द आत्मा का बोध कराने के निमित्त, जिन सद्गुरु ने मनुष्यवाणी (भाषा) में इस पंचीकरण को बनाया है, उन सद्गुरु श्रीराम की मैं वन्दना करता हूँ ।"

॥ इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्रीमदखण्डानन्द सरस्वती श्रीराम गुरु शिष्य श्रीजयकृष्ण विदुषां विरचिता पंचीकरण सटीकस्य कर्म-काण्डभूषण, ज्यौतिषाचार्य्य पण्डित गोविन्द प्रसाद दीक्षितात्मज कविरत्न राजेशदीक्षित कृत 'पंचीकरण बोध' नाम हिन्दीभाषान्तर समाप्तः ॥

॥ दोहा ॥

आत्मबोध–प्रद, बन्ध–हर, है यह ग्रन्थ महान् ।
श्री सद्गुरु के वचन शुभ, करें सदा कल्यान ॥

॥ शुभं भूयात् ॥

मुद्रक–द्वारकाप्रसाद भरतिया, बम्ई भूषण प्रेस, मथुरा ।